समाज सुधार

और

वैदिक धर्म का आदर्श

—देवीदत्त भट्ट एडव्होकेट।

समाज सुधार

और

वैदिक धर्म का आदर्श

——:——

लेखक :—

देवीदत्त भट्ट एडवोकेट,

नैनीताल ।

——:——

——:——

प्रथम वार १००० } भाद्रपद सं० १९९० { मूल्य चार आना

* भूमिका *

प्राच्य और पाश्चात्य प्रायः सब ही इतिहासकारों को यह मान्य है कि इस देवभूमि भारतवर्ष ही में वेदों के द्वारा मनुष्य को सृष्टि के आदिमूल परमात्मा का ज्ञान हुआ है और इसी पुनीत भूमि में धर्म का आदि स्रोत है। समय समय पर धर्म के इस निर्मल स्रोत की पवित्र धारा को स्वच्छ रखने के लिये महान् आत्माओं का इस भूमि में जन्म हुआ है। भगवत्-प्रेरणा से वैदिक धर्म का सूर्य अपनी सत्ता एवं आत्मसम्मान की घोषणा करते हुये मानव जाति के कल्याणार्थ प्रचलित भाव-विचार-रूपी मेघों को, जो कि इस के प्रकाश को हमारे निकट आने से रोकते हैं, छिन्न भिन्न कर अपनी स्वच्छ किरणों से हमारे आर्त हृदयों को शान्त एवं सुखी करने की जसी इस समय चेष्टा कर रहा है वैसा कदाचित् भारत के इतिहास में कभी नहीं हुआ। हमारे वंश-परम्परागत धार्मिक विचारों में आकस्मिक परिवर्तन का होना यद्यपि नितान्त असम्भव प्रतीत होता है तथापि हमको निराश न होकर इस कार्य में संलग्न होना चाहिये, क्योंकि "सत्यमेव जयते नानृतम्"। इसी लक्ष्य को सामने रख मैंने इस पुस्तक को लिखने का प्रयास किया है जिस से कि समाज सुधार के इस जटिल प्रश्न पर हम समुचित दृष्टिकोण से विचार कर सकें और शुद्ध वैदिक धर्म का उचित रूप से निर्णय कर सकें क्योंकि इसी निर्णय पर हमारा भावी कार्यक्रम तथा इस देश के

करोड़ों मनुष्यों का हित और अनहित निर्भर है। अतएव यह प्रत्येक देश हितैषी को मानना पड़ेगा कि ऐसे गहन विषय पर विचार करने में उदासीन एवं तटस्थ रहना महान् अनर्थकारी एवं अधर्म है।

यह पुस्तक समाज-सुधार के प्रत्येक अँग पर विचार करने का कोई दावा नहीं करती। वैदिक धर्म के सिद्धान्तों के विरुद्ध आधुनिक आचार विचारों का, जिन्होंने समय की गति से धर्म का रूप धारण कर लिया है और जिन को मानने के लिये हम बाध्य से हो गये हैं, दिग्दर्शन करा कर शिक्षित समाज के विचारार्थ थोड़ी सी सामग्री एकत्रित कर देना ही इस पुस्तक को लिखने का उद्देश्य है।

हिन्दी संसार में अपने विचारों को पुस्तकाकार प्रकाशित करने का यह मेरा पहला अवसर है। अतएव साहित्य की दृष्टि से पुस्तक में त्रुटियों का होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। तथापि जिस भाव से प्रेरित होकर मैंने यह परिश्रम किया है पाठकवृन्द उस का विचार कर इस पुस्तक का आदर करें यही मेरा नम्र निवेदन है।

अन्त में मैं श्रद्धेय नारायण स्वामी जी महाराज, पं० गोविन्द-वल्लभ पन्त जी और विशेष कर अपने मित्र ठाकुर दीवानसिंह जी आर्य्य के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकाश करता हूं जिन्होंने मुझे इस पुस्तक को लिखने में प्रोत्साहित किया है। ठाकुर दीवानसिंह

जी ने कई स्थानों में उचित संशोधन कर मुझे जो सहायता दी है उस के लिये मैं उनका आभारी हूं।

यदि शिक्षित समाज निष्पक्ष एवं प्रेमभाव से इस पुस्तक पर विचार करे तो अपने परिश्रम को मैं सफल समझूँगा।

नैनीताल,
ता० १ मार्च सन् ३३ ई० } —देवीदत्त भट्ट एड्वोकेट।

श्री पूज्य नारायणस्वामी जी की सम्मति

मैंने श्रीयुत पं० देवीदत्त जी भट्ट लिखित पुस्तक को देखा। जिस प्रकार एक सहृदय सुधारक को सुधार की नीति रखनी चाहिये उसी शुद्ध नीति के अवलम्बन पर यह पुस्तक लिखी गई है। जिस प्रकार सुधारक को कहीं कहीं बड़े निर्भीक हो जाने की जरूरत होती है उस निर्भीकता का भी दिग्दर्शन कहीं कहीं पुस्तक से होता है। पुस्तक भाषा व भाव सभी दृष्टि से उत्तम है और उपयोगिता चाहती है कि उस का अधिक से अधिक प्रचार हो।

बलिदान भवन,
देहली। १५-२-३३ —नारायणस्वामी।

समाज सुधार और वैदिक धर्म का आदर्श

इस समय जब कि भारत में हिन्दू समाज के अन्तर्गत अनेक प्रकार की कुरीतियों का निवारण करने के लिये हमारे पूज्य नेता तथा प्रातः-स्मरणीय महात्मा जी प्राणों की बाजी लगा कर तन मन धन से प्रयत्न कर रहे हैं, यह हमारा कर्तव्य है कि हम भी यथाशक्ति इस कार्य को सम्पादन करने में उनकी सहायता करें। इसमें कोई सन्देह नहीं कि समस्या बड़ी विकट है और कार्य्य बड़ा कठिन है क्योंकि सुधारों के विरोध में परम्परागत विचार-शैली के विद्वज्जन इस प्रकार के सुधारों को धर्म्म और शास्त्र मर्य्यादा के विरुद्ध कह कर यथाशक्ति इनको रोकने का प्रयत्न कर रहे हैं। अतएव समाज सुधार पर अपने विचार प्रगट करने से पहले यह जानना आवश्यक है कि हम किस उद्देश्य से तथा किस आदर्श के आधार पर सुधारों का आयोजन करें। प्राचीन व नवीन विचार शैली के विद्वानों के बीच इस मत भेद का सम्यक्तया निर्णय करने के लिये हमारे पास कोई माध्यम एव आदर्श ऐसा होना चाहिये जिसकी कसौटी पर सुधारों की परीक्षा की जाय। इतना तो कम से कम दोनों दल के विद्वानों को स्वीकृत है कि हिन्दू समाज का अधःपतन अवश्य होगया है और इसमें स्फूर्ति तथा नवीन जीवन प्रदान करने के लिये अपने २

विचारों के अनुसार समाज के हितार्थ सुधारों की आवश्यकता तो सब बतलाते हैं किन्तु सुधारों के कार्य्यक्रम में मतभेद होने से प्रगट रूप से परस्पर मनोमालिन्य ही नहीं बढ़ा है, प्रत्युत युवक समाज भी कर्तव्य-विमूढ़ होकर शिथिल सा होगया है। इसमें सन्देह नहीं कि इस देश के अधिकांश निवासी धर्मान्धता के दलदल में इस तरह फँसे हुए हैं कि वे अपनी परंपरागत विचार शैली में किसी प्रकार के संशोधन को सहन नहीं कर सकते। तथापि मेरी धारणा है कि यदि हम उपर्युक्त विचार शैली के सज्जनों से विनयपूर्वक प्रचलित रूढ़ियों के विपरीत सहृदता तथा सहानुभूति प्राप्त करने का प्रयत्न करें तो निस्सन्देह हमको सफलता मिल सकती है। इस कार्य्य का साधन करने के लिये हमको एक ऐसे आधार तथा माध्यम की आवश्यकता है जिसको दोनों दल के विद्वान स्वीकार कर सकें। इस देश में अन्य देशों की अपेक्षा यह विशेषता है कि यह भक्ति-प्रधान देश है। भगवद्भक्ति ही हम लोगों का चिरकाल से उद्देश्य रहा है। अतएव इसी पुनीत लक्ष्य को सामने रख समाज सुधार की आवश्यक्ता तथा स्वरूप का विवेचन करने तथा हिन्दू समाज के अन्तर्गत कई प्रथाओं का विश्लेषण और आलोचना करने के निमित्त मैंने यह लेख लिखना उचित समझा है, जिससे देश और जाति के उत्थान में सहायता हो।

ऐसे उच्च आदर्श को हृदयगत करते हुए हिन्दू समाज के रीति रिवाज आचार विचार का आधुनिक स्वरूप देख कर प्रत्येक देश-

हितैषी के हृदय में सन्ताप एवं खेद होना कोई आश्चर्य्य की बात नहीं हैं। इतिहास इस बात का साक्षी है कि इस देश के बड़े २ विद्वानों व महानुभावों ने अनेक कष्ट सहन करके समय २ पर अनुचित सामाजिक बन्धनों के विरुद्ध क्रान्ति का झण्डा खड़ा किया है और कृत्रिम वर्णाश्रम धर्म्म के मिथ्या अभिमान से क्लांत एवं आर्त्त मानव समाज का परित्राण करने के लिये प्राणपण से प्रयत्न किया है। भगवान् कृष्ण, गौतम बुद्ध, श्री० शंकराचार्य्य, स्वामी दयानन्द, गुरु नानक, राजा राम मोहन राय, स्वामी विवेकानन्द, श्री० रवीन्द्रनाथ टैगोर, पूज्य महात्मा गांधी प्रभृति पवित्र आत्माओं ने धर्माधर्म का विचार कर इस देश को महान् पतन से बचाने तथा इसको उन्नति पथ पर लाने की चेष्टा की और कर रहे हैं। किन्तु खेद इस बात का है कि हमने इन महानुभावों के सदुपदेशों को कभी शान्त हृदय मे मनन नहीं किया, न कभी हमने अपनी शोचनीय सामाजिक अवस्था पर विचार करने का कोई उद्योग किया। कुछ अधिक समय नहीं हुआ कि जब इस देश के नवयुवक अमेरिका आदि देशों से विद्या प्राप्त करके स्वदेश को लौट कर आए तब हमारे आचार्य्यों ने समुद्रयात्रा-निषेध की शास्त्रीय आज्ञा की दुहाई देकर जिस प्रकार उनका सत्कार किया वह किसी से छिपा नहीं है। इस प्रकार खान पान एवं विवाह सम्बन्धी नियमों से दुःखित होकर अथवा जातिच्युत किये जाकर सहस्रों आर्य्य हिन्दुओं ने अन्य सम्प्रदायों की शरण लेकर ही अपनी रक्षा की।

कहा जाता है कि परम पुनीत श्री० स्वामी रामतीर्थ जी के सुमनोहर व्याख्यानों से प्रेरित होकर एक अमेरिकन महिला श्री० गंगा जी की पवित्र मूर्ति के दर्शनार्थ भारतवर्ष में आई। कलकत्ते में पहुँच कर जो दृश्य उसने श्री० गंगा जी का देखा उससे उस महिला को स्वामी जी के वाक्य पर अश्रद्धा उत्पन्न हुई। किन्तु जब उससे कहा गया कि गंगा जी के दिव्य रूप के दर्शन गंगोत्री में हो सकते हैं तब वह महिला गंगोत्री में आई और इस स्थान पर उसको स्वामी के वाक्य की सत्यता पर विश्वास हुआ। इसी प्रकार वंश-परंपरा से चली हुई कुप्रथाओं व कुरीतियों से आवृत हमारे सनातन धर्म्म का सच्चा स्वरूप आधुनिक पौराणिक व शास्त्रीय मत नहीं है किन्तु इसका शुद्ध और पवित्र स्वरूप देखने के लिये हमें सहस्रों वर्ष पूर्व वैदिक काल की ओर दृष्टि डालनी चाहिये। यहाँ पर सत्य सनातन धर्म्म का निर्भय स्रोत वेद और उपनिषदों द्वारा प्रगट होता है। अपने उद्गम स्थान से निकल कर ज्यों २ इस पवित्र धर्म्म की धारा काल के अविराम चक्र में बहती हुई आगे बढ़ती है त्यों २ इस का पवित्र और निर्मल जल भिन्न २ सभ्यताओं के संघर्षण तथा अनेकानेक ऐतिहासिक घटनाओं के प्रभाव से प्रभावित होकर दुर्गन्धयुक्त और अपेय होता गया। इस रहस्य को समझने के लिये कि किस प्रकार से वैदिक काल में प्रचलित सनातन धर्म्म वर्तमान विकृत स्वरूप को प्राप्त हुआ है और किस युक्ति से हम इसका

पुनरुत्थान कर सकते है—समाज-सुधार पर विचार करना नितान्त आवश्यक है।

यह निर्विवाद है कि प्रकृति के अटल नियम जिस प्रकार भौतिक पदार्थों के उन्नति क्रम, उनके विकाश तथा वृद्धि को निर्धारित करते हैं और जिस प्रकार यह नियम हमारे जन्म तथा मृत्यु को अपने आधीन रखते हैं उसी प्रकार प्रकृति के यही निश्चित नियम हमारे सामाजिक जीवन के विकाश तथा उत्थान व पतन में पूर्ण रूप से घटित होते हैं। जिस प्रकार हमारे व्यक्तिगत जीवन में परिवर्तन होता है उसी प्रकार हमारे सामूहिक तथा सामाजिक जीवन में भी परिवर्तन होता है। जिस प्रकार हमारी शिक्षा तथा माता पिता का प्रभाव हमारे जीवन के प्रत्येक कार्य्य पर पड़ता है उसी प्रकार हमारे सामाजिक जीवन में भी हमारे साहित्य तथा अन्य राष्ट्रों के साहित्य का प्रभाव भी हमारे रहन सहन तथा भाव विचार पर पड़ता है। विकाशवाद का यह मत है कि मनुष्य आदि युग में असभ्य थे और शनैः शनैः सभ्य होते जा रहे हैं। सभ्यावस्था सामाजिक जीवन की उस स्थिति का नाम है जब मनुष्य को अपने सुख और आराम के साथ २ दूसरों के स्वत्वों और अधिकारों का भी ज्ञान हो जाता है। इस सद्भाव की मात्रा जितनी अधिक किसी जाति विशेष में पाई जाय उतनी ही अधिक वह सभ्य समझी जा सकती है। इसके विपरीत जितनी न्यूनता हम देखें उतना ही उसे असभ्य समझना

चाहिये। अर्थात् यह सद्भाव ही हमारी सभ्यावस्था का निर्देशक है। इस भाव का बनना बिगड़ना साहित्य की अनुकूलता पर अवलम्बित है। अर्थात् जैसा हमारा साहित्य होगा वैसी ही हमारी सामाजिक अवस्था होगी।

जैसा कि पहले कहा गया है कि विकाशवाद का यह निश्चित नियम है कि मनुष्य पहले असभ्य थे और शनैः शनैः सभ्य होते जा रहे हैं। अब भी अफ्रीका आदि कई प्रदेशों में बहुत सी जातियाँ इतनी असभ्य हैं कि उनको अपने मनुष्यत्व का कुछ भी ज्ञान नहीं है। अब तक वे लोग पाशविक जीवन व्यतीत कर रहे हैं। विकाशवाद के इस नियम के अनुसार यदि हम विचार करें तो हम को कई सहस्र वर्ष पूर्व इस भूमण्डल पर दृष्टिपात करने से भारतवर्ष एक ऐसे द्वीप के समान प्रतीत होगा जिसके चारों ओर मनुष्य अपनी प्रारम्भिक असभ्यावस्था में ही थे और भारत के निवासी सभ्यता की चरम सीमा पर पहुँचे हुये थे; जिसकी झलक हम इस समय भी वेदों और उपनिषदों के प्रकाश में देख रहे हैं। किन्तु यह अवस्था अधिक काल तक नहीं टिक सकी, क्योंकि भिन्न २ जातियों के भाव विचार रहन सहन का ढंग तथा साहित्य का प्रभाव भारत के निवासियों पर पड़ा और धीरे २ वैदिक सभ्यता का लोप होता गया, यहाँ तक कि अब हम इस सभ्यता के भग्नावशेष ही देखते हैं।

प्राच्य एवं पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि संसार के साहित्य

में वेद सब से प्राचीन हैं। उनको भी वैदिक ऋृपियों की बुद्धि की अलौकिकता और चमत्कारिक प्रतिभा के आगे नतमस्तक होना पड़ता है। जिस राज्य-प्रणाली, जिस आदर्श सामाजिक अवस्था व जिस विश्व संघ का आजकल के राजनीतिज्ञ केवल स्वप्नमात्र ही देख रहे हैं वह वैदिक काल में कार्य्यरूप में लाई जाती थी और हमारे ऋषियों ने इस उदात्त कल्पना को हृदयंगम किया था। इस काल में जन्म से वर्ण स्थिर करने की कोई व्यवस्था नहीं थी। स्त्री और पुरुप पूर्ण रूप से स्वाधीन थे। कन्या को अपने पति को वरण करने का पूर्ण अधिकार प्राप्त था। साम्प्रदायिकता तथा स्वार्थ-परता जिस से मनुष्य मनुष्य को दारुण कष्ट देने में अपना सन्मान समझता है, इस समय भारत में नहीं थी क्योंकि ऋषि लोग सब प्राणियों की आत्मा में अपनी आत्मा का दर्शन करते थे, जिन्होंने उपनिपदादि ग्रन्थों में अपनी अध्यात्मिक शांति का परिचय देकर समस्त संसार को चकित कर आदर्श सभ्यता का पाठ पढ़ाया था, ऐसे परम पुनीत महान् आत्माओं के सरल हृदय में स्वार्थ-परता, साम्प्रदायिकता तथा कुलीनता के क्षुद्र विचार नहीं आ सकते। वेदों में कथित अग्नि वरुणादि देवताओं के विषय में सब से प्राचीन साहित्य ऋग्वेद में लिखा है :—

"सत्य तत्व एक ही है परन्तु ज्ञानी लोग उसका वर्णन अनेक रीति से करते हैं, उसी एक तत्व को इन्द्र, वरुण, अग्नि, दिव्य,

सुपर्ण, गरुत्मान, यम और मातरिश्वा कहा है इस एक सत् को हृदयंगत करने का उपाय अथर्ववेद में इस प्रकार है :—"

"जो मनुष्य के शरीर में ब्रह्म को देखते हैं वे परमेष्टि को भी जान सकते हैं।" (अथ० १०-७-१७)

केवल आध्यात्मिक विषय ही वेदों का ध्येय नहीं हैं वरञ्च राजनैतिक और सामाजिक विषयों का भी वेदों में वर्णन है। उदाहरणार्थ, अथर्ववेद में विश्व संघ की व्यवस्था का विधान इस प्रकार है:—नगरों में मांडलिक राजा हों जिनको वरुण कहा गया है। सब वरुण मिल कर एक वरुण चुनें जो राष्ट्र का अधिपति हो। इसको उक्त वेद में इन्द्र कहा है। सब राष्ट्रों के इन्द्र एक इन्द्र को चुनें जो सार्वभौम राष्ट्र का स्वामी हो जो इन्द्रेन्द्र कहा गया है। इसके अतिरिक्त सार्वभौम राष्ट्र के इन्द्रेन्द्र की सहायता के लिये आमंत्रण नामक सभा की पूरी योजना वेदों में है। अभिप्राय यह है कि वैदिक काल में एक आदर्श धर्म-व्यवस्था प्रचलित थी जिसके अनुसार मनुष्य मनुष्य के बीच कोई भेद भाव नहीं समझा जाता था। यही भारत का स्वर्ण युग था जिसमें आर्य्य सभ्यता अपनी चरम सीमा को पहुंची हुई थी।

वैदिक काल से आगे चल कर जब हम महाभारत काल की की ओर अग्रसर होते हैं तो हमको वैदिक काल के आर्य्यों के सरल निष्कपट व सार्वभौमिक जीवन में बहुत अन्तर दिखलाई देता है। वह अनुपम सभ्यता जो रामायण काल में आदर्श रूप

थी महाभारत के समय क्षतिग्रस्त हो वार्द्धक्य भाव को पहुँच गई थी। रामायण में दो सौतेले भाई परस्पर इस बात के लिये विवाद कर रहे थे कि यह समस्त राज्य और राज्य-सिंहासन मेरा नहीं, यह सब आप का है; किन्तु इसके विपरीत महाभारत काल में सौतेले भाई इस बात पर कलह करने के लिये सन्नद्ध हुए कि जितने में सुई का अग्रभाग ढक जाय उतनी पृथ्वी भी हम बिना युद्ध के न देंगे। इससे विदित होता है कि महाभारत काल में प्राचीन आर्य्य सभ्यता का आदर्श बहुत गिर गया था और आत्माभिमान अर्थात् अहमहमिका तथा स्वार्थपरता का भाव शनैः २ आने लगा और वैदिक काल का विश्व संघ छिन्न भिन्न होगया।

आर्य्य सभ्यता के इस अधःपतन का पुनरुत्थान और अभ्युदय हम फिर बौद्ध काल में देखते हैं। भगवान् बुद्ध की आदर्श शिक्षाओं ने एक बार फिर भारत का मुख उज्वल कर दिया। जन्मगत वर्ण व्यवस्था के बन्धन ढीले कर दिये गए। शिक्षा का द्वार सर्व साधारण के लिये खोल दिया गया। आयुर्वेद का प्रचार बहुत बढ़ा। शव को चीर फाड़ करने से अस्पृश्यता का भाव न होने से Surgery अर्थात् शल्य-चिकित्सा के काम में बड़ी उन्नति की गई। समुद्रयात्रा-निषेध का नाम तक नहीं था अतएव भारत का व्यापार बड़े दूर देशों में होता था। इजिप्ट, जावा, सुमात्रा, एलेकजन्ड्रिया, चीन, जापान आदि देशों में भारतीय लोग अधिक संख्या में आते जाते थे; जिससे देश में धन की

इतनी वृद्धि हुई कि तत्कालीन राजा लोग सुवर्ण की वर्षा करते थे। संसार को एक करने और संसार में विश्वबन्धुत्व का साम्राज्य स्थापित करने में सम्राट अशोक ने जो प्रयत्न किया है उसके लिये पाश्चात्य विद्वानों व इतिहास लेखकों का मत इस प्रकार है—"अशोक पहला सम्राट है जिसने सत्य उद्देश्य को लक्ष्य में रख कर मनुष्य जाति को शिक्षित किया। इसने बड़ी भारी सेना और बड़ी भारी शक्ति होते हुए भी सैनिक और राजनैतिक विजय नहीं की। उसने अपने शौर्य्य, पराक्रम और वीरता को दिखलाने के लिये किसी राष्ट्र पर आक्रमण नहीं किया, किसी देश को तहस नहस करने के लिये किसी राष्ट्र को गुलाम बनाने के लिये, सुन्दर नगरों को धूलिसात् करने के लिये, आहतों, पीड़ितों, और दुखियों तथा निस्सहायों के अभिशाप से भरी पृथ्वी को अधिक बोझल तथा दुखित मानव समाज को अधिक दुखित नहीं किया। उसने दान के कामों के निरीक्षण के लिये कर्मचारी नियुक्त किये, सार्वजनिक चिकित्सालय और वाटिकायें बनाई, आयुर्वेदिक औषाधालयों के लिये बाग बनवाये। प्रजा की शिक्षा के लिये मन्त्री नियुक्त किये, स्त्रियों की शिक्षा की व्यवस्था की। उसने धर्म-विजय की, धर्म भिक्षुओं द्वारा अतृप्त और सन्तप्त संसार को प्रेम और धर्म का अमृत पान कराया। अपने चतुर्दश शिलालेख में वह लिखता है :—

"धर्म विजय को ही देवताओं के प्रिय मुख्यतः विजय मानते हैं। धर्म विजय में जो आनन्द है वह बहुत प्रगाढ़ है पर वह

आनन्द क्षुद्र वस्तु है। देवताओं के प्रिय पारलौकिक कल्याण को ही बड़ी भारी वस्तु समझते हैं। इसलिये यह धर्म लिखा गया है कि मेरे पुत्र और पौत्र जो हों वे नया देश विजय करना अपना कर्त्तव्य न समझें। यदि कभी वे नया देश विजय करने में प्रवृत्त हों तो उन्हें शांति और नम्रता से काम लेना चाहिये। उससे इस लोक और परलोक दोनों जगह सुख लाभ होता है। उद्योग ही उनके आनन्द का कारण हो, क्योंकि उससे यह लोक और परलोक दोनों सिद्ध होते हैं।"

सम्राट अशोक के शिला-लेखों व परहित चिन्ता और असीम प्रेम को देख कर एक पाश्चात्य विद्वान मिस्टर वेल्स लिखते हैं—"इतिहास के पन्नों में जहां अगणित राजा महाराजाओं के नाम भरे पड़े हैं वहां सम्राट अशोक का नाम अकेला बृहत् आलोक में के समान चमकता हुआ दिखलाई देता है। पृथ्वी के एक किनारे से दूसरे किनारे तक अब भी अशोक का सन्मान है। यद्यपि चीन, तिब्बत और भारत इन देशों ने उसकी शिक्षाओं को भुला दिया है तथापि अशोक के महत्वशाली कार्य्यों व शिक्षाओं का आदर किया है। संसार के अधिक मनुष्य कौन्स्टेनटाइन व चार्लमेग्नी के नामों की अपेक्षा अशोक के नाम से अधिक परिचित हैं।" बौद्ध काल में भारतीय सभ्यता की चीनी यात्रियों ने मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है।

बौद्ध काल के अन्त होते ही पौराणिक काल का आरम्भ होता है। इस काल में जात पात के बन्धन दृढ़ किये गये,

समुद्रयात्रा निषेध तथा स्त्रियों की स्वतन्त्रता का अपहरण, सती प्रथा, स्त्री शूद्रौ नाधीयाताम् आदि अनेक कुप्रथाओं की नीव डाली गई जिससे प्राचीन आर्य्य सभ्यता तथा उच्च आदर्शों का शनैः २ ह्रास होता गया। स्वार्थपरता तथा धार्मिक साम्प्रदायिकता व जात्यभिमान का प्राबल्य होने से देश की शक्ति छिन्न भिन्न हो गई और अपने विचारों के प्रतिपादन में इस काल के आचार्यों ने नवीन साहित्य का निर्माण किया और उसमें ईश्वरीय आज्ञा की मुहर लगा कर लोगों को अपने विचारों को कार्य्य रूप में लाने के लिये बाध्य कर दिया। यह विचारणीय है कि यह सामाजिक एवं धार्मिक परिवर्तन किस प्रकार हो गया ? प्राचीन वैदिक धर्म के स्थान पर पौराणिक धर्म को व्यवस्थाओं का भारत में कैसे प्रचार होगया ? यदि ये व्यवस्थायें वैदिक नहीं हैं तो ये कहां से आगईं ? इन सब प्रश्नों पर विचार करने का हम इस लेख में प्रयत्न करेंगे।

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं कि वैदिक काल में भारत उन्नति की चरम सीमा तक पहुच चुका था। इस काल में ही हमारे परम पूजनीय महर्षियों ने सर्व श्रेष्ठ परमात्म तत्व का ज्ञान प्राप्त किया था। जिस समय समस्त भूमण्डल ईश्वर के अस्तित्व से अनभिज्ञ था भारत ने यह बतलाया कि इस अखिल संसार का रचयिता एक परमात्मा है जो चर अचर जड़ चेतन सब वस्तुओं में व्याप्त है और उसी एक तत्व को योग द्वारा उपलब्ध

करने से ही हम संसार के बन्धनों से मुक्त हो सकते हैं। इसी एकेश्वर-वाद की प्रतिध्वनि भारत से पाश्चात्य देशों में पहुँची। इसका प्रभाव विशेष कर प्राचीन मिश्र देश पर बहुत पड़ा और हजरत मूसा भी, जो तत्कालीन फराऊन बादशाह के दरबार में पले थे, इन विचारों में भली भाँति दीक्षा पा चुके थे। यह कहना नितान्त असत्य है कि ईश्वर के एकत्व की महान कल्पना का प्रतिपादन करने वाला मूसा था। वास्तव में मूसा मिश्र देश को छोड़ने के पश्चात अपने अनुयायियों में अपना प्रभुत्व स्थापित करने के निमित्त ईश्वर को एक क्रूर सत्ता बनाने के लिये बाध्य हुआ, जो कि उन असभ्य और बर्बर जातियों में भय और त्रास का भाव उत्पन्न कर सके। हम आगे चल कर यह सिद्ध करेंगे कि मूसा द्वारा प्रतिष्ठित इस ईश्वर-कृत क्रूर शासन के सिर पर पुरोहित अर्थात् "लेवी" धर्म प्रगट हुआ और यही आधुनिक पौराणिक धर्म की आधार-शिला है। अस्तु, कुछ विद्वानों का यह मत है कि प्राचीन इस्राइलियों ने अपनी सामाजिक व्यवस्था तथा धार्मिक साहित्य भारत से ही उद्धृत किया है और भारत ही उन सब अत्याचारों का मूल है जो कि धर्म और ईश्वर के नाम पर इन देशों में किये गये थे। वास्तव में भारत पर यह आक्षेप नितान्त असत्य और निर्मूल है। इसके दो मुख्य कारण हैं। एक तो यह कि शुद्ध वैदिक धर्म, जिसका प्रकाश हम वेदों और उपनिषदों में देखते हैं और जिसमें आदर्श धर्म तत्व का पूर्ण रूप से विधान है, नवीन पौराणिक काल के विचारों का जन्मदाता

कदापि नहीं हो सकता। इन धार्मिक (पौराणिक) विचारों की वैदिक धर्म से उत्पत्ति की कल्पना करना ही महान् अन्याय और अनर्थकारी है। वास्तव में वैदिक धर्म के मूल तत्वों को पाश्चात्य देशों ने नहीं समझा और इसी कारण यह तत्व उनके हाथों में पड कर इतना विकृत होगया कि उन्होंने एक ऐसे धर्म का निर्माण किया, जिससे इस मानवसमाज के उन्नति-क्रम को बड़ा धक्का पहुँचा और चारों ओर धर्मोन्माद और साम्प्रदायिकता का साम्राज्य होगया। दूसरा कारण यह है कि भारत में समुद्रयात्रा-निषेध की शास्त्रीय आज्ञा से बौद्ध काल के पश्चात् भारतीय लोगों का विदेशों में आना जाना ही बन्द होगया जिस कारण पौराणिक धर्म का प्रचार अन्यत्र न हो सका।

मसीही धर्म की पवित्र पुस्तक बाइबिल में मूसा का वृत्तान्त पढ़ते समय हमको प्रत्येक पृष्ठ में घोर धर्मोन्माद और क्रूर सिद्धान्तों की प्रतिध्वनि ही कर्णगोचर होती है। हमें आश्चर्य है कि लोग बिना सोचे समझे इस पुस्तक को आदर्श ज्ञान-भण्डार ही समझे बैठे हैं, किन्तु वास्तव में यदि निष्पक्ष भाव से विचार किया जाय तो यह पुस्तक केवल भीषण विश्वासों की एक संहिता मात्र है। मूसा के परमेश्वर यहोवा के पाशविक क्रोध का रोमांचकारी दृश्य, थोड़े से अपराध पर सहस्रों इस्रानियों की हत्या, और यहोवा के आदेशानुसार मूसा का सहस्रों विवाहिता स्त्रियों, पुरुषों, व बच्चों का संहार कर केवल क्वारी

कन्यायों को छोड़ देना यह सिद्ध करता है कि यह पुस्तक घोर अत्याचार और हिंसा से परिपूर्ण है और ऐसा प्रतीत होता है कि स्वयं पुस्तक ही रक्त से लिखी हुई है। किन्तु अभाग्यवश हमारा पौराणिक धर्म बाइबिल-लिखित व्यवस्थाओं के आधार पर निर्माण किया गया है और तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर यह प्रतीत होता है कि पौराणिक धर्म लेबी धर्म से ही उत्पन्न हुआ है। पौराणिक तथा लैव्य धर्म व्यवस्था की निर्मल और शुद्ध वैदिक धर्म से उत्पत्ति की कल्पना करना इतना ही असम्भव है जैसा कि सूर्य से अन्धकार की। यह कभी सम्भव नहीं हो सकता कि योग सूत्रों तथा उपनिषदों के निर्माणकर्ता ऐसी क्रूर और विवेकशून्य व्यवस्थाओं का विचार भी करते। अपने कथन के प्रतिपादन में प्रमाणस्वरूप हम कुछेक ऐसे उदाहरण देते हैं जिन से इन दोनों व्यवस्थाओं की समानता सिद्ध हो सकती है।

(१) लैव्य व्यवस्था अध्याय १७।

"फिर यहोबा ने मूसा से कहा—हारून और उसके पुत्रों से और सारे इस्राइलियों से कह कि यहोबा ने यह आज्ञा दी है कि इस्राएल के घराने में से कोई मनुष्य हो, जो बैल या भेड़ के बच्चे व बकरी को चाहे छावनी में या छावनी से बाहर घात करके, मिलाप वाले तंबू के द्वार पर यहोबा के निवास के सामने यहोबा के चढ़ाने के निमित्त न ले जाय तो, उस मनुष्य को लोहू

बहाने का दोष लगेगा और वह जो लोहू बहानेहारा ठहरेगा सो वह अपने लोगों के बीच से नाश किया जाय।"

मानव धर्म शास्त्र अध्याय ५।

"स्वयम्भू परमेश्वर ने स्वयं ही यज्ञ के लिये पशुओं को रचा है और यज्ञ से जगत की वृद्धि होती है। इसलिये यज्ञ के निमित्त हिंसा हिंसा नहीं है।"

"जो मनुष्य केवल अपने खरीदे हुये अथवा दूसरों के भेट दिये हुये पशु का ही मांस उसे परमेश्वर को चढ़ाने के उपरान्त, खाता है वह पापी नहीं होता क्योंकि यज्ञ की सिद्धि के पश्चात् मांस का खाना ईश्वरीय विधि कहा है।"

"मधुपर्क, यज्ञ और श्राद्ध तथा देवकर्म, इन में ही पशुवध करे, अन्यत्र नहीं करे, यह मनु ने कहा है।"

"मधुपर्क और श्राद्ध में विधि से नियुक्त हुआ जो मांस भक्षण न करे वह मर के इक्कीस बार पशु योनि में जन्म लेता है।"

(२) लव्य व्यवस्था अध्याय २२।

"जो लोथ के कारण अशुद्ध हुआ हो और जो रेंगने वाले जन्तु को छुए या किसी ऐसे मनुष्य को स्पर्श करे जिस में किसी प्रकार की अशुद्धता हो वह सांझ तक अशुद्ध रहे और तब तक पवित्र वस्तुओं को न खाय जब तक वह जल से स्नान न करे।"

मनुस्मृति अध्याय ५ । ८५

"चाण्डाल, रजस्वला, पतित, प्रसूता, तथा शव और शव के स्पर्श करने वाले को छूने पर स्नान से शुद्ध होता है।"

(३) लेव्य व्यवस्था अध्याय २१।

"याजक कुमारी से विवाह करे, वह विधवा से अथवा त्यागी हुई अथवा भ्रष्ट अथवा वेश्या से विवाह न करे, किन्तु वह अपने ही लोगों के बीच में किसी क्वारी कन्या से विवाह करे। वह अपने वर्ण के रुधिर को साधारण लोगों के रुधिर में न मिलावे क्योंकि उसको पवित्र करने हारा मैं यहोवा हूं।"

मनुस्मृति तथा पौराणिक मत।

ब्राह्मण विद्या की समाप्ति और समावर्तन हो चुकने के उपरान्त एक निर्दोष ब्राह्मण कुमारी से विवाह करे। वह विधवा से अथवा दुर्वृत्त अथवा अस्वस्थ कन्या से या ऐसे कुल की कन्या से जो वेदाध्ययन से विमुखी हो विवाह न करे। द्विजों के लिये अपने ही वर्ण की कन्या से विवाह का विधान है।

(४) लेव्य व्यवस्था अध्याय १५।

"फिर जब कोई स्त्री ऋतुमती हो वह सात दिन तक अशुद्ध रहे और जब तक वह अशुद्ध रहे तब तक जिस २ वस्तु पर वह लेटे और जिस वस्तु पर वह बैठे वे सब अशुद्ध ठहरें और जो कोई उस बिछौने को स्पर्श करे वह अपने वस्त्र धोकर जल से स्नान करे और सांझ तक अशुद्ध रहे।"

मनुस्मृति अध्याय ५, ६६।

"जितने मास का गर्भ-स्राव हो उतने दिन में स्त्री शुद्ध होती है और रजस्वला स्त्री जिस दिन रज की निवृत्ति हो उस दिन स्नान करके शुद्ध होती है।"

"रजस्वला स्त्री को छूने वाला स्नान से शुद्ध होता है।"

(५) निर्गमन अध्याय ५।

"यहोवा ने पर्वत पर से पुकार कर के मूसा से कहा कि सो अब यदि तुम निश्चय मेरी मानोगे तो सब लोगों में तुम ही मेरे चुने हुये ठहरोगे सारी पृथ्वी मेरी है और तुम मेरी ओर से याजकों का राज्य और पवित्र जाति ठहरोगे।"

मनु० अध्याय १-६६

"ब्राह्मण का उत्पन्न होना ही पृथ्वी में श्रेष्ठ होता है क्योंकि सम्पूर्ण जीवों के धर्म रूपी खजाने के रक्षार्थ वह प्रभु है।"

(६) लव्य मत के अनुसार सब जुगाली करने वाले पशु जिनके खुर चिरे नहीं होते, सुअर, बिना पंख छिवकेवाली मछली, शिकारी पक्षी और रेंगने वाले जन्तु अभक्ष्य हैं।

मानव धर्म शास्त्र के अनुसार कच्चे मांस के खाने वाले, ग्राम के रहने वाले, अनिर्दिष्ट एक खुर वाले, गर्दभ, टिड्डी, चोंच तथा नखों से फाड़ कर खाने वाले पक्षी, पाठा, रोहू, राजीव, सिंह, तुंडा आदि सब मोटी खाल वाली मछलियों के अतिरिक्त सब मछलियां और रेंगने वाले सर्पादि सब जन्तु अभक्ष्य हैं।

(७) मसीही मत के अनुसार सब पापों की मूल आदि स्त्री हव्वा है। इसी स्त्री ने शैतान के बहकाने से ईश्वरीय आज्ञा का पहले पहल भंग किया, जिस कारण आदम और हव्वा दोनों अदन से निकाले गये। ईश्वर ने इस निर्वासन दण्ड को पर्याप्त नहीं समझा। इसके अतिरिक्त इस आदि युगल दम्पति और उनके सन्तान के दुःख के भार को असह्य करने के लिये शाप भी दिया।

ठीक इस मत के अनुरूप पौराणिक मत भी स्त्री जाति को अधम कहकर अपमानित करता है स्त्रियों और शूद्रों को विद्या प्राप्ति तथा मनुष्यत्वाधिकार से वंचित रखना यह प्रगट करता है कि पौराणिक मत बाइबिल-लिखित उपर्युक्त कथा का प्रतिपादन करता है। क्योंकि आदि स्त्री हव्वा ने विद्या के वृक्ष का फल ईश्वर की पवित्र आज्ञा के विरुद्ध खाया था, जिसके कारण आज समस्त संसार दुःखों के बोझ से दबा हुआ है, अतएव इस जाति को विद्या से वंचित रखना ही उचित समझा गया। उनको वेद मंत्रों का उच्चारण करने का अधिकार नहीं दिया गया, न उनके लिये कोई वैदिक संस्कार किया जाता है और ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक स्त्री पौराणिक मत में "हव्वा" समझी जाती है। मानव धर्म शास्त्र भी उस मत का प्रतिपादन इस प्रकार करता है—"शय्या, आसन, अलङ्कार, काम, क्रोध, अनार्जव, द्रोह-भाव और कुचर्या मनु ने स्त्रियों के लिये उत्पन्न किये हैं। जात-

कर्मादि क्रिया स्त्रियों की मन्त्रों से नहीं हैं। इस प्रकार धर्म शास्त्र की मर्यादा है। स्त्रियां निरिन्द्रिया और अमन्त्रा हैं और इनकी स्थिति असत्य है। मनु, अध्याय ६, श्लोक १७, १८।

(८) लैव्य व्यवस्था में जिस प्रकार पशु-बलिदान तथा स्नान द्वारा विविध प्रकार के पापों के प्रायश्चित्त करने का विधान है उसी प्रकार मानव धर्म शास्त्र में भी किये हुये पापों से मुक्त होने की व्यवस्था है। उदाहरणार्थ—मनुस्मृति एकादश अध्याय में लिखा है:—"संयत होकर त्रिरात्र उतवास करे और प्रति दिन त्रिकाल स्नान करता रहे। जल में खड़ा हुआ अघमर्षण सूक्त को त्रिरावृत्ति पढ़ कर सब पापों से बच जाता है। जैसे अश्वमेध यज्ञ सब यज्ञों में श्रेष्ठ और सब पापों को दूर करने वाला है वैसे ही सब पापों को दूर करने वाला यह अघमर्षण सूक्त है। इन उपर्युक्त उदाहरणों पर विचार करने पश्चात हम यह मानने के लिये बाध्य हैं कि इन दोनों व्यवस्थाओं में यह घनिष्ठ समानता आकस्मिक नहीं है। प्रत्युत आधुनिक पौराणिक धर्म के भावों तथा विचारों का उद्गम स्थान मूसा की लैव्य व्यवस्था है जिनका प्रचार यवन जातियों द्वारा बौद्ध काल के पश्चात् भारत में किया गया। इन्हीं विचारों के प्रभाव से हमारे आचार्य्य, जो कि पहले आत्मत्यागी और निःस्वार्थ थे, अब धनाढ्य और स्वेच्छाचारी बन गये। इस लेख के सम्बन्ध में इन विचारों का विश्लेषण कर हम यह सिद्ध करेंगे कि किस प्रकार इन विचारों के आधार पर

पौराणिक धर्म का विकाश हुआ। इस विचार धारा को हम निम्नलिखित सात मुख्य भागों में विभाजित करते हैं।

(१) ईश्वर-कर्तृक शासन एवं निरंकुश पुरोहितशाही।

(२) पितृ अधिकार।

(३) स्वर्ग और नरक में विश्वास।

(४) इहलोक परलोक में जीव के रहन सहन का सादृश्य।

(५) यज्ञ में हिंसा।

(६) शिल्प विद्या का अपमान।

(७) कृत्रिम वर्ण व्यवस्था।

मिश्र, यूनान, तथा इस्राएल के प्राचीन इतिहास को देखने से हम निश्चय पूर्वक कह सकते हैं कि इन देशों के निवासियों में निरंकुश पुरोहितशाही का पूर्ण साम्राज्य था और ईश्वर उनके क्रूर और भीषण कार्यों को सम्पादन करने के लिये एक साधन मात्र था। किसी जाति विशेष की सभ्यावस्था का पता उसकी शासन प्रणाली से चलता है। इस सिद्धान्त के अनुसार हम इन प्राचीन जातियों की पाशविक अवस्था का दिग्दर्शन इस मूसा-कृत ईश्वर-कर्तृक शासन-विधान से कर सकते हैं। बाईबिल की प्राचीन धर्म व्यवस्था आदि से अन्त तक क्रूर ईश्वर-कर्तृक शासन से परिपूर्ण है। विविध प्रकार के पापों के प्रायश्चित्त का विधान निर्दोष पशुओं का "यहोवा" की पवित्र वेदी पर रक्त-स्राव है।

इन विचारों का विकाश आगे चल कर हम बाइबिल की नवीन धर्म व्यवस्था में देखते हैं, जिसमें पशु के स्थान पर ईश्वर के एकलौते पुत्र का बलिदान क्रूस पर किया जाता है। मसीही मत के अनुसार इस बलिदान पर विश्वास करना ही आत्म-शुद्धि और मुक्ति का साधन है। इसके विपरीत वैदिक धर्म के आदर्श की एक झलक जो हम मनुस्मृति में देखते हैं वह इस प्रकार है—

"ज्ञानी लोग अपने को अपराधों की क्षमा, दान और प्रार्थना द्वारा शुद्ध करते हैं। ब्राह्मण अपने को पवित्र ग्रन्थों के अध्ययन से शुद्ध करता है। जैसे शरीर जल से शुद्ध होता है वैसे ही मन सत्य से शुद्ध होता है। निर्दोष सिद्धान्त और सत्य कार्य आत्मा को शुद्ध करते हैं। बुद्धि ज्ञान द्वारा शुद्ध होती है। इस आदर्श शिक्षा के लिये किसी पुरोहितशाही की आवश्यकता नहीं है। किन्तु यह विश्वास कि सारे अशौचों और धर्म के विरुद्ध अपराधों की निष्कृति शुद्धि के यज्ञों और अनुष्ठानों द्वारा होती है। याजक राज्य एवं निरंकुश पुरोहितशाही की स्थापना करता है। इस विश्वास के फलस्वरूप पुरोहित अपने को ईश्वर का प्रतिनिधि समझने लगता है और उसकी ओर से पापों की निवृत्ति करने की क्षमता अपने में समझने लगता है। मध्यकालीन यूरोप का इतिहास पुरोहितशाही इतिहास है। रोम के विशाल साम्राज्य मे पुरोहितों को सब से बड़ा स्थान प्राप्त था। इसके अनन्तर मसीही मत के स्तम्भ रोम के पोप ने ईश्वर का प्रतिनिधि

बनकर जो नादिरशाही की है उसका इतिहास साक्षी है। यद्यपि अब प्रोटेस्टेन्ट चर्च ने पोप की शक्ति क्षीण कर दी है तथापि ईश्वर की ओर से पापों के क्षमा करने का विश्वास ईसाई जगत् में तद्वत है, जिस कारण पादरियों के रूप में पुरोहितों का साम्राज्य बना हुआ है। इस ईश्वर-कर्तृक शासन की व्यवस्था का ब्राह्मणों ने भी अनुकरण किया और अपने स्वार्थ-साधन के निमित्त एक ऐसे समाज का निर्माण किया जिस पर शासन करना उनके लिये सुगम था, जो दासत्व के भार को फेंक देने में नितान्त असमर्थ था। अतएव चिरकाल तक लोगों का उनके प्रति सन्मान और भक्ति का भाव बना रहा और वे एक मूर्ख समाज के व्यय पर परम ऐश्वर्य का उपभोग करते रहे जिसका परिणाम भारत के लिये अत्यन्त हानिकारक सिद्ध हुआ। हिन्दू समाज के अन्तर्गत एक-चौथाई मनुष्य पंखहीन पक्षी के समान मूर्ख और अशिक्षित रहे और शेष थोड़े से क्षत्रियों को छोड़ कर देश की रक्षा करने के लिये नितान्त अयोग्य होगये। और जब भारत के धन धान्य एवं ऐश्वर्य को मुगल व पठानों ने मत्सरता की दृष्टि से देखना आरम्भ किया, भारत एक विदेशी आक्रमणों का क्रीड़ा क्षेत्र बन गया और जो कुछ भी प्रयत्न भारत की रक्षार्थ किये गये वह सब निष्फल होगये, क्योंकि जिन लोगों को ब्राह्मणों ने अपनी प्रभुता स्थापित करने के निमित्त निर्बल एवं हतोत्साह कर दिया था उनको युद्ध के लिये प्रोत्साहित करने के लिये वे किसी प्रकार सफलीभूत न हो सके। अकेले क्षत्रियों में

इतनी सामर्थ न थी जो इन स्वतन्त्र जातियों के आक्रमण को रोक सकते। ब्राह्मण बैठे २ मन्दिरों में देवता की आराधना करते थे परन्तु देवता उनकी रक्षा करने में अशक्त थे। इस कथन के प्रतिपादन में मुहम्मद गजनी द्वारा सोमनाथ के मन्दिर की लूट एक ज्वलन्त उदाहरण है।

सामाजिक नीति का यह एक अटल नियम है कि समाज का एक विभाग बिना अन्य विभागों में फूट डाले हुए उन पर शासन नहीं कर सकता। और फूट डालने के लिये यह आवश्यक है कि शासित वर्गों को विद्या से वंचित कर उनको मूर्ख रखा जाय, जिससे वह भय से अपना सिर ऊंचा न कर सकें और सदा दासत्व में रहना पसन्द करें। मूसा-कृत पुरोहितशाही का यही उद्देश्य रहा है। अतएव बाइबिल के ईश्वर ने आदम और हव्वा को ज्ञान-वृक्ष का फल खाने का निषेध कर दिया था। 'फूट डालो और शासन करो' यही एक निरंकुश पुरोहितशाही का मूल मन्त्र आदि काल से रहा है और अब भी है, जिससे शासित वर्ग स्वतन्त्रता देवी से भी डर कर कोई उन्नति न कर सकें। हम देखते हैं कि इसी मन्त्र के आधार पर भारतवर्ष में ब्राह्मणों का एक विभक्त और विवेकहीन समाज पर पूर्ण आधिपत्य बना हुआ है। इस भय से कि कहीं सब जातियां मिल कर स्वतन्त्र न हो जायँ, ईश्वर के इन प्रतिनिधियों ने भिन्न २ वर्णों के पारस्परिक विवाहों का ही नहीं प्रत्युत सब प्रकार के सामाजिक सम्मेलनों और खान

पान का भी निषेध कर दिया और उनकी किसी आज्ञा को उल्लंघन करने में जाति-बहिष्कार के दण्ड का विधान कर दिया। ऐसी आडम्बर-युक्त दण्डनीति से ब्राह्मण लोग प्रत्येक वर्ण को अपनी इच्छानुसार एक नियत सीमा के अन्दर बन्द रखने में समर्थ हुए और पतित कर देने का भय देकर अपने निरंकुश अधिकार का सन्मान सब से कराते रहे। इन अहम्मन्य पुरोहितों की रहस्यमय शिक्षाओं और कल्पित कथाओं द्वारा जो विपत्ति-जनक प्रभाव समाज पर पड़ा वह कल्पनातीत है। छल कपट और झूठ से ऐसी बेड़ियां तैयार करदी गईं जिनमें जकड़ी हुई आत्मा कभी इन बन्धनों से मुक्त होने की आशा नहीं कर सकती। ऐसी निरंकुश पुरोहितशाही को प्रोत्साहित करने के लिये मानव धर्म शास्त्र में लिखा है :—

"जो कुछ जगत के पदार्थ हैं वे सब ब्राह्मण के हैं। सब में श्रेष्ठ उत्पन्न होने के कारण ब्राह्मण सम्पूर्ण को ग्रहण करने योग्य है।"
मनु० अध्याय १, १००।

"अन्य लोग जो भोजन करते हैं वह ब्राह्मण की कृपा से।"
अ० १, १०१।

"जो शूद्र अहंकार से ब्राह्मण को धर्म का उपदेश करे, उसके मुख और कान में राजा गरम तेल डलवाये।"
अध्याय ८, २७१।

ब्राह्मण को गाली देने से क्षत्रिय सौ पण दण्ड योग्य है और वैश्य डेढ़ सौ या दो सौ पण और शूद्र वध करने योग्य है।

और ब्राह्मण यदि क्षत्रिय को गाली दे तो पचास पण, वैश्य को गाली दे तो पच्चीस पण और शूद्र को गाली दे तो बारह पण दण्ड योग्य है। मनु० अध्याय ८-२६७, २६८।

यह ध्यान देने योग्य है कि इस दण्ड नीति से समाज पर कितना बुरा प्रभाव पड़ सकता है। इसी नीति से ब्राह्मणों में अहम्मन्यता का भाव उत्पन्न हुआ। ब्राह्मण शूद्र को गाली दे तो उस को सब से कम दण्ड मिले और उसी अपराध पर शूद्र का वध किया जाय। इस के अतिरिक्त वर्ण के अनुसार दण्ड न्यूनाधिक कर दिया गया है।

"उच्च के साथ बैठने की इच्छा करने वाले नीच की कमर में दाग लगा कर निकलवा दे अथवा उस की गुदा को थोड़ा कटवा दे।" मनु० अध्याय ८-२८१।

"ब्राह्मण को छोड़ कर अन्य जो कोई परस्त्री-संमग करे वह प्राणान्त दण्ड योग्य है।" मनु० अध्याय ८-३५९।

"जैसे अग्नि, प्रणीत हो या अप्रणीत हो, महती देवता है ऐसे ब्राह्मण मूर्ख हो या विद्वान् हो महती देवता है।" ९-३१७।

"यद्यपि इस प्रकार सम्पूर्ण कुत्सित कर्मों में रहते हैं तथापि ब्राह्मण सब प्रकार से पूजने योग्य हैं क्योंकि वे महती देवता हैं।" ९-३१९।

"दण्ड का सम्पूर्ण धन ब्राह्मणों को देकर और पुत्र को राज्य समर्पण कर के राजा रण में प्राणत्याग करे।" ९-३२३।

"आपत्ति को प्राप्त हुआ क्षत्रिय वैश्यवत् जीवन व्यतीत करे किन्तु कभी ब्राह्मण की वृत्ति का अभिमान न करे। जो निकृष्ट जाति से उत्पन्न हुआ लोभ से उत्कृष्ट जाति की वृत्ति करे उस को राजा निर्धन करके देश से निकाल देवे।" १०-९५ ९६।

मनुस्मृति की उपर्युक्त व्यवस्था एक निरंकुश पुरोहितशाही शासन स्थापित करने के लिये पर्याप्त है। इस के अतिरिक्त इस ईश्वरकर्तृक शासन को दृढ़ करने के लिये ब्राह्मणों ने अवतार-वाद से बड़ी मदद ली। हमें आश्चर्य है कि परमेश्वर के मन में यदि अवतार धारण करने का विचार आया तो इन्हीं निकृष्ट समयों में आ सकता था, जब कि उस के नाम पर लोगों को अनेक यातनायें दी जा रही थीं। श्रीकृष्ण, बुद्ध, ईसा आदि महान आत्माओं के उत्तराधिकारियों ने अपनी स्वार्थसिद्धि के निमित्त गुरु को ईश्वर बना दिया जिस से कि उन को अपने को ईश्वर का दूत प्रकट करने में सुगमता हो और उन की प्रभुता भी सदा के लिये निरापद् बनी रहे।

हम देख चुके हैं कि ब्राह्मणों ने मूसा-निर्मित व्यवस्थानुसार अपने को महती देवता तथा ईश्वर के प्रतिनिधि बनाने के निमित्त ऐसे नियम बना दिये जिनको समाज बिना किसी संकोच के मानने के लिये बाध्य हो। किन्तु उनका लोभ इतने ही में परि-मित नहीं रहा। वरंच उन्होंने अपनी पदवी को द्रव्य से सुशोभित करने और अपनी स्थिति को दृढ़ बनाने के लिये पाश्चात्य देशों

का पूर्णतया अनुकरण किया। प्राचीन काल में रोम, यूनान और मिश्र देशों में पुरोहितों को भेंटस्वरूप पशु, द्रव्य, तथा अन्न प्रदान करने का नियम प्रचलित था जो कि उनकी निज सम्पत्ति समझी जाती थी। इन चढ़ावों की मात्रा अधिक बढ़ाने के लिये इन देशों में कुमारी कन्यायें मन्दिरों में रखी जाती थीं जो अपने रूप और लावण्य से लोगों को मुग्ध कर मन्दिरों की आय को बढ़ाती थीं। यह देवदासियां धर्मान्ध जनता से धन की एक प्रचुर राशि का चढ़ावा ऐंठने के लिये देव-मन्दिरों में आकाश-वाणी सुनाया करती थीं। ठीक इसी प्रयोजन से भारत में भी यह प्रथा चालू की गई। बहुमूल्य चढ़ावे और प्रचुर दान की एक सुवर्णमयी धारा मन्दिरों की ओर अविराम गति से बहती जाती है। अब ब्राह्मणों के पास ऐश्वर्य मद के अतिरिक्त धन-मद भी होगया, वेद और उपनिषदों का अध्ययन भी उन्होंने छोड़ दिया। ऐसी स्थिति का वर्णन करने के लिये हितोपदेश का एक श्लोक यहां पर उल्लेख करना पर्याप्त है :—

यौवनं धन-सम्पत्ती प्रभुत्वमविवेकता।
एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम्॥

अर्थात्—यौवन, धन, सम्पत्ति, प्रभुता और मूर्खता इनमें से एक २ ही अनर्थकारी है और जहां चारों हों वहां क्या कहना ?

अधिक लिखना व्यर्थ है। हमारी भावी उन्नति के लिये यह पुरोहितशाही (गुरुडम) शासन कहां तक हमारे लिये उपयोगी

सिद्ध हो सकता है इसका अनुमान हम उपर्युक्त हितोपदेश के वचन से कर सकते हैं। भारत में ऐसी निरंकुश पुरोहितशाही को देख कर एक पाश्चात्य विद्वान् कहते हैं कि जब हम भारत में भ्रमण करते हैं तो यह प्रतीत होता है कि हम वास्तव में प्राचीन यूनान और मिश्र देश में घूमते हैं। विज्ञान की उज्ज्वल ज्योति के प्रकाश में पुरोहितशाही की शक्ति पाश्चात्य देशों में क्षीण होगई है किन्तु खेद है कि भारत में अब तक इसका साम्राज्य बना हुआ है।

(२) पितृ-अधिकार

उपर्युक्त निरंकुश पुरोहितशाही के समानान्तर प्राचीन रोम में पिताको अपने पुत्र, स्त्री, क्रीत दास कन्या आदि पर पूर्ण अधिकार प्राप्त थे। कारण यह है कि प्राचीन रोमन समाज भिन्न भिन्न परिवारों में विभाजित था और पिता ही अपने परिवार का अधिपति समझा जाता था। पिता के जीवनकाल में पुत्र, कन्या, स्त्री आदि को कोई अधिकार प्राप्त न थे। उन को सदा उस के आधीन रहना पड़ता था। पिता (Pater familias) यदि चाहे तो उन को बेच सकता था, दान कर सकता था, यहां तक कि उनका वध कर सकता था। इस पैत्रिक अधिकार (Patria patestas) की संस्था का प्रचार बौद्ध काल के पश्चात भारत में भी हुआ। अतएव इस काल का हिन्दू नीति शास्त्र इसी सिद्धान्त

के ढांचे पर ढला हुआ है। बाल विवाह, कन्या का दान, दत्तक विधान, सम्पत्ति विभाग के नियम आदि सब व्यवस्थाओं का मूल स्रोत यह रोम की पैत्रिक अधिकार संस्था है, जो कि भारत में अनुकूल वायु के मिलने से अभी तक जीवित है और विभिन्न रूप से पुरोहितशाही की आड़ में यह फलती फूलती जाती है, जिस से यह देश अभी तक उन्नति नहीं कर सका और संसार की दौड़ में सब से पीछे रह गया। पैत्रिक अधिकार के विषय में शास्त्रीय मत इस प्रकार हैं:—

"पुत्र को शुक्र और रक्त से उत्पन्न करने के मूल कारण माता पिता हैं, अतएव उन को अधिकार है कि वे उसे दान कर दें, बेच दें अथवा उस का त्याग कर दें।"

—वसिष्ठ।

"शक्तिहीन तथा सम्पत्ति की अधिकारिणी न होने से स्त्रियां असत्य हैं।"

—बौधायन।

"स्त्री स्वतन्त्र होने योग्य नहीं है क्योंकि पिता बाल्यकाल में, पति यौवनावस्था में और पुत्र वृद्धावस्था में उस की रक्षा करता है।"

—मनु।

"यदि बारह साल होने पर कन्या का दान नहीं किया जाता तो माता, पिता एवं ज्येष्ठ भ्राता तीनों कन्या को रजस्वला देखकर नरक को जाते हैं।"

—यम।

"यौवनावस्था प्राप्त होने पर भी पिता के जीवनकाल में पुत्र स्वतन्त्र नहीं हो सकता।"

—कात्यायन।

इन शास्त्रीय आदेशों के विरुद्ध जब हम वैदिक काल के सुवर्ण-युग की ओर दृष्टिपात करते हैं तो हम को एक भिन्न प्रकार का समाज दिखलाई देता है, जिस में पुत्र, कन्या, स्त्री आदि प्रत्येक व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त थी। कन्या को यौवनावस्था प्राप्त होने पर स्वयवर करने का अधिकार था। पिता को कन्यादान करने का अधिकार नहीं था, न कन्या के विवाह की आयु बारह साल थी, प्रत्युत कम से कम सोलह वर्ष की अवस्था में विवाह का विधान था। सावित्री ने अनेक देशों में भ्रमण करने के पश्चात् सत्यवान को अपना पति स्वीकार किया था। इस काल में भारत का स्त्री जाति के प्रति सन्मान का भाव प्रायः पूजा की सीमा तक पहुंच गया था वह और उसे हम अन्यत्र कहीं नहीं देखते। इस भाव की झलक हम पौराणिक काल के इस निकृष्ट युग में भी देखते हैं जिसको मनु ने बड़ी ओजस्विनी भाषा में प्रकाशित किया है:—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राऽफलाः क्रियाः ॥

अर्थात्—जिस कुल में स्त्रियां पूजी जाती हैं वहां देवता निवास करते हैं और जहां इनका तिरस्कार होता है वहां सम्पूर्ण कर्म निष्फल होते हैं।

स्त्री जाति के प्रति सन्मान के इस भाव ने भारत में अनुपम शौर्य और महान् ऐश्वर्य का एक ऐसा युग उत्पन्न कर दिया कि जिसके सामने मध्यकालीन योरोप के वीर युग (Heroic age) की सारी लीलायें बालकों के खेल के समान प्रतीत होती हैं। यह कैसा उज्ज्वल और शान्तिमय युग था जिस को भारत आज भूल गया है ! यदि इस सुख और शान्ति को भारत से बहिष्कृत करने का उत्तरदायित्व पुरोहितशाही की इन विवेकहीन व्यवस्थाओं पर नहीं तो किन पर हो सकता है ?

हम समझते हैं कि आर्य जाति के इस महान पतन का मूल कारण न केवल स्त्री जाति के प्रति ऐसी अन्यायपूर्ण शास्त्रीय व्यवस्था ही है बल्कि हमारे आचार्यों के पितृ-अधिकार सम्बन्धी अवांछनीय और निन्दनीय विचारों ने भी, जिन्होंने समयाधिक्य से भीषण रूप धारण कर लिया, हमें इस शोचनीय वर्त्तमान अवस्था तक पहुंचाने में कम योग नहीं दिया है। हमारे शास्त्रकारों ने जहाँ प्रत्येक द्विज के लिये विवाह सूत्र में बद्ध

होना अनिवार्य बतलाया है वहां अपनी सन्तान के प्रति पिता के कर्त्तव्य की उचित व्यवस्था नहीं दी । हम देखते हैं कि जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त हमारे सब संस्कार जातिच्युत किये जाने के भय से केवल दिखलावे के लिये किये जाते हैं। इन संस्कारों में उपनयन और विवाह संस्कार हमारे जीवन में अपना दुष्प्रभाव डाले बिना नहीं रहते। उपनयन संस्कार का वास्तविक अभिप्राय बालक को अपने गुरु के आश्रम में भेजकर विद्यारम्भ कराना है, जहां पच्चीस साल की अवस्था तक ब्रह्मचर्य व्रत पालन, भिक्षावृत्ति करते हुये विद्योपार्जन करना अवश्यम्भावी है। अब हमारे सामने प्रश्न है—क्या हमारे पुरोहित देश-कालानुसार हमें पच्चीस साल तक विद्याध्ययन करा सकते हैं ? यदि नहीं तो इस पुरोहितशाही शासन मे हिन्दू समाज को हानि के अतिरिक्त कोई लाभ नहीं हो सकता। हम देखते हैं कि आजकल हमारे कुल-पुरोहितों की, जो कि संस्कार पद्धति के अतिरिक्त कुछ भी नहीं जानते, जो शोचनीय दशा हो गई है वह किसी से छिपी नहीं है। इन का धर्म न केवल इन सस्कारों द्वारा धन प्राप्त करना ही है, वरञ्च अपनी अहम्मन्यता एवं निरंकुश शासन स्थापित करने के लिये नये नये ढोंगों का आविष्कार करना भी है। प्रचलित प्रथा के विरोध में जो जो सुधार हिन्दू समाज के हितार्थ किये जाते हैं उन की अवहेलना करने वाले हमारे कुल-गुरु अपने यजमान को वेदाध्ययन कराना तो दूर रहा, स्वयं हिन्दू धर्म के मूल तत्वों

को भी विद्यार्थी को नहीं समझा सकते। यह सम्भव है कि वैदिक काल में इस पुरोहित-प्रणाली से विद्या की उन्नति हुई हो, किन्तु आधुनिक काल में, जब कि स्कूल और विश्वविद्यालयों ने पुरोहितों का स्थान ले लिया है तब, यह उपनयन संस्कार केवल ढोंग है। ऐसे ढोंग से जो नैतिक पतन हमारा हो गया है उस का अनुमान हम हिन्दू समाज की अधोगति से ही कर सकते हैं। इसी प्रकार आजकल के अनमिल विवाह, बाल-विवाह पुरोहित-वर्ग की धन-लोलुपता के ही फल हैं। इस समय जब कि हमारी परिस्थितियों में, हमारे आचार विचार में, हमारे रहन सहन के ढंग में एक महान परिवर्त्तन हो गया है तब यह आवश्यक है कि हिन्दू धर्म और हिन्दू समाज को जीवित रखने के लिये इन प्राचीन व्यवस्थाओं एवं प्रथाओं में भी देश-कालानुसार परिवर्तन किया जाय। इस महान उद्देश्य की सिद्धि के लिये हमें पितृ-अधिकार सम्बन्धी शास्त्रीय विचारों का परित्याग करना अवश्यम्भावी है। इस के विरुद्ध हम को अपनी भावी सन्तान के प्रति अपने कर्त्तव्यों की ओर दृष्टि डालनी चाहिये। केवल गया में श्राद्ध तथा तर्पणादि कराने के हेतु पुत्रोत्पत्ति करना स्वार्थ की पराकाष्ठा है। यदि हमें उस जीव का, जिस का आवाहन हम करना चाहते हैं, पालन पोषण करने तथा उसे विद्या देने की शक्ति हम में नहीं है तो विवाह करके सन्तानोत्पत्ति करना महापाप है। हमें यह ध्यान रखना चाहिये कि जिस

आत्मा को हमने अपनी सन्तान के रूप में अपने घर में बुलाया है उसके सत्कार के लिये पूर्ण सामग्री हमारे पास रहनी चाहिये। अपनी सन्तान को सब प्रकार से योग्य बनाने के लिये यदि हमें महान से महान कष्ट भी सहने पड़े तो यह भी स्वीकार करना चाहिये। अपने लिये स्वर्ग प्राप्त करने के हेतु किसी जीव को कष्ट देना हिंसा है। मेरा नम्र विश्वास है कि यदि हम भारत-माता को पुनः अपने यथेष्ट स्थान में आरूढ़ करना चाहते हैं तथा वैदिक धर्म के आदर्श को संसार के सामने उपस्थित करके इस भारत-भूमि को स्वर्गतुल्य बनाने की आकांक्षा करते हैं तो हमें अपनी सन्तान के प्रति सब अधिकारों को परित्याग कर देना चाहिये। श्राद्ध-तर्पणादि द्वारा जिस अनिश्चित स्वर्ग की कामना हम करते हैं उसे अपने हृदय से हटा कर हम यही प्रार्थना भगवान से करें कि "हे भगवन हमें स्वर्ग नहीं चाहिये। हमें इस भारतभूमि में बारम्बार जन्म लेकर इसकी सेवा करने का सौभाग्य प्राप्त हो। हमें अपनी सन्तान तथा अपने देश की सेवा में महान से महान कष्ट सहन करने में ही परम आनन्द की अनुभूति हो।" मेरी यह धारणा है कि जब तक हमारे हृदयों में अपनी भावी सन्तान के उत्कर्ष के लिये अपने सुख का परित्याग करने की शक्ति न होगी. भारत का उद्धार केवल स्वप्नमात्र है। श्राद्ध तर्पण द्वारा स्वर्ग के ऐश्वर्यों को भोगने की इच्छा करने वाले कभी भी अपने देश की सेवा नहीं कर सकते और न वे अपनी सन्तान का ही कोई उपकार कर सकते हैं।

स्वर्ग और नरक में विश्वास

ईसा से पूर्व पैलेस्टाइन के आसपास रहने वाली सेमेटिक जातियों का यह विश्वास था कि मृत्यु के पश्चात् आत्मा "कयामत" (मृतोत्थान) के दिन तक निष्क्रिय रहती है। उसके पश्चात् उसके भाग्य का निबटारा किसी शक्ति द्वारा किया जाता है; कुछ आत्मायें अनन्त काल तक सुख भोग करने के लिये तथा कुछ अनन्त यातनाओं को सहन करने के लिये भिन्न २ लोकों को भेज दी जाती हैं, जिनको वह स्वर्ग और नरक के नाम से पुकारते थे। उनके मत के अनुसार पशुओं में आत्मा नहीं होती और मनुष्य की आत्मा को किसी दैवी शक्ति ने निर्माण कर इस संसार में डाल दिया है और इन आत्माओं का भाग्य भी पहले ही से इस शक्ति ने उनके ललाट पर लिख दिया है कि अमुक आत्मा स्वर्ग में भेज दी जावेगी तथा अमुक आत्मा नरक में। अब भी इसलाम और खीष्ट मत में इन विचारों की छाप पूर्ण रूप से विद्यमान है, जिस से इन दोनों मतों ने संसार की उन्नति को बहुत काल तक के लिये रोक दिया और संसार का इतिहास हम को स्पष्टतया बतलाता है कि माध्यमिक काल में इन दोनों मतों की धर्मान्धता से मनुष्य मात्र को अनेक कष्ट उठाने पड़े। यूरोप में पोप के आधिपत्य में करोड़ों मनुष्यों का धर्म के नाम पर खून बहाया गया। बाइबिल-लिखित सिद्धान्तों पर अविश्वास करने मात्र से लोग जीते जी आग में डाल दिये गये थे। उनको

आजन्म कैद के दारुण कष्ट दिये जाते थे। उधर इस्लाम ने तलवार की चोट पर अपने विचारों का प्रचार किया और ऐसा प्रतीत होता है इन दोनों मतों के कारण संसार में इतना भयंकर तूफान आया जिससे इस भूमण्डल का उन्नति-क्रम कई शताब्दियों के लिये रुक गया। भारत भी इस भीषण तूफान के प्रभाव से नहीं बचा। इस्लाम के भारत में पदार्पण करने के पहले ही भारत में सीदियन, हूण और शक जातियों द्वारा एक ऐसा वायुमण्डल तैयार होगया जिससे इसलाम को भारत को अपने आधीन करने में बड़ी सहायता मिली। यह अनार्य जातियां सेमेटिक लोगों के भाव विचार भारत में लाईं और तत्कालीन हमारे आचार्य्यों ने बौद्ध और जैन मत को निर्मूल करने की चिन्ता में इन कुत्सित विचारों को अपना लिया और अपने विचारों को जनता में प्रविष्ट कराने का उनको बहुत उत्तम साधन मिल गया। स्वर्ग के ऐश्वर्य और नरक की यातनाओं का भय दिखला कर हमारे स्मृति तथा शास्त्रकारों ने खूब ढोंग रचा। जो कार्य एक बड़ी सुसज्जित सेना से नहीं हो सकता था वह कार्य इस स्वर्ग नरक के सिद्धांत ने कर दिया। अब बौद्ध तथा जैन मत को सहज ही में हमारे आचार्यों ने भारत से निर्मूल नहीं किया तो इनका प्रभाव कम अवश्य कर दिया। यही भारत की अवनति का कारण हुआ। जो शस्त्र हमने बौद्ध और जैन मत के विरुद्ध प्रयोग किया था वही हमारे अधःपतन का कारण सिद्ध हुआ। हमारे आचार्यों ने किस

प्रकार अपना स्वार्थ साधन करने के लिये इस शब्द का प्रयोग किया यह हम आगे चल कर बतावेंगे। वह इन्द्र जो वैदिक काल में हमारे ऋषियों के लिये यज्ञ का कुछ भाग लेकर समुद्र से पानी भर लाता था और उनके खेतों को सींचता था अब वह स्वर्ग लोक का राजा बन कर विलास-प्रियता में फँस इन्द्रिय-लोलुप हो गया। जो इन्द्र वृत्रासुर पर वज्र प्रहार करता था वह अब सुन्दर नारियों व अप्सराओं के पीछे घूमने लगा और धोखा देकर गौतम ऋषि की स्त्री अहिल्या का धर्म भ्रष्ट करने लगा। उर्वशी आदि अप्सरायें इन्द्र सभा में नाचने लगीं और ऋषि मुनियों की वर्षों की तपस्या को भंग करने के निमित्त मृत्यु लोक में भेजी जाने लगीं। पुराणों तथा अन्य ग्रन्थों व काव्यों के देखने से यह प्रतीत होता है कि ये अप्सरायें सज्जन व साधु पुरुषों को कुमार्ग पर लाने की चेष्टा करती थीं और अनेक प्रकार के प्रलोभन द्वारा उनका धर्म भ्रष्ट करती थीं। इन्द्र की यह कुवासनायें बाइबिल के शैतान से बहुत मिलती जुलती हैं, जिससे यह प्रतीत होता है कि बाइबिल का शैतान पुराणों का इन्द्र बन गया।

भारत की उर्वरा भूमि को पाकर जब यह शक हूण आदि अनार्य लोग खाने पीने की चिन्ता से मुक्त हुए तब उनका ध्यान विलासिता और रस की ओर अधिक झुका। पौराणिक काल के प्रायः सब ग्रन्थों में शृङ्गार रस से परिपूर्ण कवितायें हैं। इन लोगों ने इहलोक और परलोक दोनों को अप्सरामय बना दिया।

उपर्युक्त सिद्धांत का प्रभाव केवल इतने ही में परिमित नहीं रहा किन्तु हमारे ब्राह्मण देवताओं को तो अपने प्रभुत्व तथा धन की वृद्धि करने के निमित्त यह स्वर्ग नरक का सिद्धांत एक अनुपम अचूक साधन मिल गया। कोई राजा बिना सैन्य बल के इतना धन प्रजा से एकत्र नहीं कर सकता जितना कि इस काल के स्वेच्छाचारी ब्राह्मणों ने किया। आमदनी के नए २ स्रोत आविष्कार किये गये। देव-मंदिर तीर्थ-स्नानादि, जो कि विद्या तथा वैदिक धर्म का प्रचार करने एवं भगवान की ओर लोगों का अनुराग उत्पन्न करने के उत्तम साधन थे, अब द्रव्योपार्जन के परम साधन बन गये तथा निःस्वार्थ भगवत-प्रेम टका-प्रेम में बदल गया। इन मन्दिरों के द्वारा महन्तों ने अपार धन एकत्रित किया और सोमनाथ के मंदिर के समान यह अपार धन डाकुओं के काम आया या महन्तों के आमोद प्रमोद में। बौद्ध काल के आरम्भ में ज्योतिषाचार्य्य श्री विष्णुचन्द्र ने सूर्य चन्द्र को ग्रहण लगने का वैज्ञानिक कारण बतला दिया था, किन्तु "उदर निमित्तं बहु-कृत-वेषाः" हमारे आचार्यों को इससे सन्तोष नहीं हुआ। उन्होने राहु केतु नामक दो ग्रह और आविष्कार कर दिये और एक लम्बी चौड़ी कथा इन ग्रहों की उत्पत्ति बाबत गढ़ दी कि विष्णु भगवान ने एक राक्षस को अपने सुदर्शन चक्र से मार दिया और इसके दो टुकड़े अमर होकर आकाश में नाचते हैं। दैत्य की लाश के इन दो टुकड़ों की सहायता से शास्त्रकारों ने खूब धन लूटा। राहु केतु की दशा बता कर बड़े २ दान कराये जिनमें

सुवर्ण ही सुवर्ण मिलता था। प्रत्येक संकट को निवारण करने की शक्ति इस प्रकार के दान व ब्रह्मभोज में बताई जाती थी और अब भी बताई जाती है। भोज भी खाली नहीं, उसके साथ दक्षिणा भी होनी चाहिये। यदि ब्रह्म-भोज न कराया जाय या राहु केतु का दान न किया जाय तो हमको नरक की यातनाओं का भय दिखलाया जाता है। नरका का ऐसा भयानक चित्र खींच दिया है कि उससे निर्भय होना एक महती इच्छा-शक्ति का काम है। वैतरणी नदी को पार कराने की बड़ी २ मोटी दक्षिणा ली जाती थीं। पौराणिक काल की शोचनीय अवस्था का सिंहावलोकन करने से यह प्रतीत होता है कि इस काल में हमारा सामाजिक जीवन घड़ी के पेन्डुलम के समान स्वर्ग के ऐश्वर्य तथा नरक की यातनाओं के वीच में टक्कर खाता था।

२५ अगस्त १९३४ ईसवी

(४) इहलोक परलोक में जीव के रहन सहन का सादृश्य।

जैसा कि मैं पहले कह चुका हूं कि भारत में अन्न की प्रचुरता से आलस्य का प्राबल्य हो गया और माध्यमिक काल में हिन्दूसमाज का साहित्य शृंगार रस से परिपूर्ण था। और शृंगार रस की यह भावना इस लोक में ही परिमित नहीं थी किन्तु स्वर्ग को भी शृंगारमय बना दिया गया। हमारे आचार्य्यों की इन्द्रिय-लोलुपता का मरने से ही अन्त नहीं होता था, किन्तु उनका यह

विचार था कि सांसारिक ऐश्वर्य और सुख मरने के उपरान्त भी तद्वत रहते हैं । अतएव उनकी यह मनोवृत्ति उन के प्रत्येक कार्य तथा रीति-रिवाजों में झलकती है। इस के कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं :—

सती प्रथा — मरने के उपरान्त हमारे आचार्यों को भोग विलास की सामग्री एकत्रित करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। अतएव उन्होंने यह व्यवस्था की कि उनके मरने पर चिता में उन की स्त्री तथा दासियां भी उन के साथ भस्म कर दी जायं, जिस से उन को स्वर्ग में भी भोग विलास की कमी न हो। और स्त्रियों को भी सहमरण से स्वर्ग में पतिलाभ की आशायें दिलाकर उन को चिता में भस्मीभूत होने के लिये बाध्य किया। कहीं उन को चिता में कूदने में संकोच न हो जाय, इसलिये इन लोगों ने नरक यातनाओं का भय दिखलाया जिस से वे बाध्य हो जायं। यहां तक कि सती होने का आदेश ब्राह्मण देवताओं ने अपनी अल्पज्ञता से वेदों में भी प्रमाणित करने का प्रयत्न किया। इस विषय में जरमनी के विद्वान मैक्सम्यूलर ऋग्वेद के दशम मण्डल में सतीप्रथा के प्रतिपादन में आचार्यों ने जो पाठान्तर कर दिया है उसके बारे में यह लिखते हैं :—"शायद ये इस बात का सबसे ज्वलन्त उदाहरण है कि अनुदार और धर्महीन आचार्य लोग क्या नहीं कर सकते। सहस्रों रमणियों का बलिदान किया गया और वेद के एक मन्त्र के आधार पर युद्ध की धमकी दी गई जिस का अनुवाद उन्होंने गलत ही नहीं किया किन्तु उस का

सच्चा रूप भी नष्ट कर दिया।" अपने सुख और आराम की झूठी लालसा में सहस्रों महिलाएं व्यर्थ आग में झोंक दी गईं। क्या ये हमारे आचार्य्यों की स्वार्थपरता और नृशंस व्यवहार का ज्वलन्त उदाहरण नहीं है? इतना ही नहीं, बल्कि इस वासना-मयी सौन्दर्य उपासना का प्रभाव समाज के प्रत्येक अङ्ग में प्रविष्ट हो गया जिससे हमारे आचार्यों की धन-लोलुपता और चाटुता और भी बढ़ गई। उन्होंने मृतक आत्मा को परलोक में सांसारिक सुख पहुंचाने के निमित्त मृतक क्रिया की ऐसी व्यवस्था बनाई जिस से उस को धन की प्राप्ति हो। मृतक आत्मा के आराम करने के लिये पलंग, ओढ़ने के लिये रजाई और खाना बनाने के लिये बर्त्तन, तम्बाकू पीने के लिये हुक्का आदि कुल सामान, जिसको कि मृतक अपने जीवन काल में प्रयोग करता था, ब्राह्मणों को दान करने की व्यवस्था बनाई। इतना ही नहीं, अपितु यह टैक्स मृतक के पुत्र पौत्र एवं प्रपौत्र से प्रति वर्ष वसूल करने की लम्बी चौड़ी व्यवस्था भी तैयार की गई। इन अवसरों पर ब्राह्मणों को भोजन ही नहीं मिलता है, किन्तु दक्षिणा भी खूब मिलती है। आत्मा की यह इन्द्रियलोलुपता वेदों और उपनिषदों की शिक्षाओं के सर्वथा विरुद्ध है। उपनिषद् कहते हैं "अयमात्मा ब्रह्म" अर्थात यह आत्मा ही ब्रह्म अर्थात ईश्वर है। श्री शंकराचार्य का जगद्विख्यात अद्वैत सिद्धांत इसी मत का प्रतिपादन करता है। श्री भगवद्गीता में भी जो आत्मा का विषयातीत स्वरूप बतलाया है उसमें यह

कहीं प्रगट नहीं होता कि मृतक मनुष्य की आत्मा की सन्तुष्टि के लिये पलंग बिस्तर खाने पीने के बर्तन तथा अन्य भोग विलास की सामग्री ब्राह्मणों को दान की जाय। अतएव यह प्रथा ब्राह्मणों ने धनोपार्जन एवं उदर पूर्ति के निमित्त प्रचलित नहीं की तो और इसका क्या प्रयोजन हो सकता है ? यदि यह कहा जाय कि इस प्रथा के अनुसार आत्मा को अपनी उन्नति करने में सहायता मिलती है अथवा उसका प्रेत लोक में पूर्ण रूप से विकाश होता है तो यह विचार भी वैदिक सिद्धांत की कसौटी पर नहीं ठहरता; क्योंकि आत्मा को तो अपने ही स्वरूप में स्थित होने से आनन्द मिलता है जिसके लिये केवल हरि-भजन ही पर्याप्त है। मृतक मनुष्य की आत्मा को यदि सच्चिदानन्द भगवान की प्रार्थना करने से शांति नहीं मिलती तो श्राद्ध कर्म कांड की किसी क्रिया से सन्तोष एवं आनन्द उसको उपलब्ध नहीं हो सकता। ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे आचार्यों की मृतक क्रिया की यह व्यवस्था गली २ में घूमने वाले मदारी के समान है जो कि उदर-पूर्ति के निमित्त लोगों को तिल की ओट पहाड़ बता कर ठगते हैं। भेद केवल इतना ही है कि मदारी प्रगट रूप से निमित्तकारण उदर को बतलाते हैं किन्तु ब्राह्मण इस भेद को गुप्त रखने में ही अपना श्रेय समझते हैं। यह व्यवस्था एक विलक्षण प्रकार की एजेन्सी है जिससे एजेन्ट कमीशन में ही कुल माल हड़प कर सकता है।

इस सिद्धांत का एक भयंकर दुष्परिणाम वासनामयी सौन्दर्योपासना है। नैसर्गिक सौन्दर्योपासना आत्मा का

प्राकृतिक स्वभाव हैं। इस से जीवात्मा को अपने सत्य स्वरूप का ज्ञान होता है। किन्तु इस उपासना का स्वरूप बिगाड़ने से आत्मा का ह्रास होता है। हमारे दुर्भाग्य से हिन्दू समाज में इस उपासना का विकृत स्वरूप ही दृष्टिगोचर हो रहा है। जहां हमारे साहित्याचार्यों ने इन्द्र के वासनामय स्वर्ग का निर्माण किया और जहां उन्होंने मेनका उर्वशी आदि अप्सराओं से इस स्वर्ग को विभूषित किया तो वहां यह भी आवश्यक समझा गया कि इस मृत-लोक में भी इसका अनुरूप होना चाहिये। एतदर्थ देवमन्दिरों को इन्द्रपुरी के समान मनोहर एवं लावण्यमय बनाने के लिये अपार धन व्यय किया गया। बौद्ध काल के मठ और विद्यालयों के स्थान पर बड़े २ गगनचुम्बी पर्वताकार मन्दिरों का निर्माण किया गया। और अतएव कुंवारी कन्याओं को इन मन्दिरों में देव कार्य के निमित्त चढ़ाने की प्रथा चालू की गई, जहां वे जीवन पर्यन्त अविवाहित रह कर भगवद्भजन के मिस पुजारी और महन्तों के ऐश्वर्य-मद की वृद्धि करने में सहायक हों। हम देखते हैं कि इसी प्रथा के अनुसार एक दूसरी प्रथा भारत के भिन्न २ स्थानों में चालू की गई। वह यह कि कुछ हिन्दू जाति की कन्यायें वेश्यावृत्ति करने के लिये अलग की गईं और हमारे अनभिज्ञ ब्राह्मणों ने, जिनके वाक्य को मूर्ख जनता महाप्रमाण मानती है, इन कन्याओं के माता पिताओं को यह बतला दिया कि वेश्या वृत्ति देव कार्य है और यह देवताओं से चला आया है। इस घृणित कर्म को रुचिकर बनाने के लिये

धर्म की मुहर लगा दी गई और दिखलाने मात्र के लिये उनका विवाह संस्कार घड़े व वृक्ष के साथ कर दिया जाता है। कुमाऊं प्रान्त में यह प्रथा अब भी प्रचलित है और पौराणिक ब्राह्मण इन कन्याओं का विवाह संस्कार घड़े के साथ करके व्यभिचार की दीक्षा देते हैं, जिससे उनको दक्षिणा भी खूब मिलती है। अब हम इन प्रथाओं के मूल तत्व को समझ सकते हैं कि जिस प्रकार इन्द्र महाराज स्वर्ग में बैठे बैठे साधु सन्तों को अप्सराओं द्वारा धर्मभ्रष्ट करते हैं उसी प्रकार हमारे पौराणिक पण्डितों ने मान लिया है कि वेश्याओं को भी इस भूमण्डल में इस देव-कार्य की पूर्ति के निमित्त भगवान ने रचा है। हम यह भी देखते हैं कि ये व्यभिचार की मूर्त्तियां न केवल मंगलामुखी समझी जाती हैं, वरंच देवमन्दिरों में इन का बड़ा सत्कार किया जाता है और शुभ कार्यों के अवसर पर मंगलगान और देवप्रार्थना करने के निमित्त उन को बड़े आदर भाव से बुलाया जाता है। उन के साथ व्यभिचार करना तो धर्म-कार्य सा हो गया है। जिन मन्दिरों में हरिजनों को देव दर्शन भी दुर्लभ हैं वहां इन वेश्याओं द्वारा देव-मूर्त्तियां पवित्र की जाती हैं। क्या इस को हम धर्म कह सकते हैं? क्या ये दुष्प्रथायें वैदिक धर्म के अनुकूल हैं? जैसा कि हम बतला चुके हैं हमारे पण्डितों ने इन प्रथाओं का अनुकरण रोम और मिश्र देश से किया है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि इन कुत्सित प्रथाओं से ही इन देशों का अधःपतन हुआ है।

इस वासनामयी मनोवृत्ति ने भारत में एक ऐसा रूप धारण किया है जो कि हमारे देश के अधःपतन का मूल कारण है। वह होली की भीषण प्रथा है। सात दिन तक निर्लज्ज होकर जिस प्रकार यह उत्सव मनाया जाता है उस का मूल्य हमारा पतन है, जिस का परिणाम हम देख रहे हैं। यद्यपि इस उत्सव का उद्देश्य केवल प्रकृति देवी की लावण्यमयी एव दिव्य छटा का दर्शन कर सौन्दर्यमय भगवान के इस रचना-कौशल की सराहना करना तथा निर्दोष आनन्द मनाना है. किन्तु पौराणिक काल के अश्लील साहित्य से विकृत मस्तिष्क ने इस पवित्र उत्सव को कलुषित कर दिया और जो समय हमको भगवान की आराधना करने एवं परस्पर ऐक्य भाव की वृद्धि करने में लगाना चाहिये था इसके विपरीत उस अमूल्य अवसर पर लोग धर्म के नाम पर अपने मुखारविन्द को अश्लील शब्दों और गीतों द्वारा दूषित करते हैं। इस प्रकार न केवल वे अपने देश को कलंकित करते हैं वरन्च अपनी भावी सन्तान को भी इस घृणित उत्सव द्वारा ऐसी शिक्षा देते हैं जिससे उनका तथा देश का अधःपतन हो।

(५) यज्ञ में हिंसा

वैदिक काल के प्रायः सब ग्रन्थों में हम यज्ञ का विधान देखते हैं। अतएव स्वभावतः हमारे हृदय में यह प्रश्न उठता है कि इन यज्ञों की क्या उपयोगिता हो सकती है और किस प्रकार यज्ञ के अनुष्ठान हमारी भावी उन्नति में सहायक हो सकते हैं।

योगीराज श्रीकृष्ण अपने श्रीमुख से गीता में कहते हैं कि इस संसार में यज्ञ न करने वालों के लिये कोई भी स्थान नहीं है। (भगवद्गीता—४-३१) इसी प्रकार मनु कहते हैं कि यह समस्त सृष्टि-क्रम ही ईश्वर का सनातन यज्ञ (यज्ञं सनातनम्) है। तब यह यज्ञ क्या है? इसका क्या उद्देश्य है? इसका समझना हमारे लिये परम आवश्यक है। प्रायः यज्ञ का अभिप्राय देवकार्य्य के निमित्त पशुहिंसा ही समझा जाता है। किन्तु प्राचीन वैदिक ग्रन्थों के देखने से हम यह निश्चय पूर्वक कह सकते हैं कि यज्ञों में पशुहिंसा का विधान कहीं भी नहीं है, प्रत्युत यज्ञ का उद्देश्य आत्मत्याग एवं लोक सेवा द्वारा अध्यात्मिक उन्नति करना वेदों तथा उपनिषदादि ग्रन्थों का मन्तव्य है। इन ग्रन्थों के निर्माण करने वाले पूज्य महर्षियों को बड़े परिश्रम एवं अन्वेषण के पश्चात यह ज्ञात हुआ कि इस संसार में प्रत्येक जीव स्वभाव से पवित्र अजर अमर और सच्चिदानन्द स्वरूप है। किन्तु अहम्मन्यता के भाव से उसको अपनी वास्तविकता का ज्ञान नहीं होता, जिस कारण से उसको यह संसार दुःखमय प्रतीत होता है। उपनिषद् कहते हैं कि अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान होना ही मुक्ति है, यही मोक्ष है, और यज्ञ को ही मोक्ष का परम साधन बतलाया है और यह कहा है कि प्रत्येक जीव को ब्रह्म के इस सनातन यज्ञ में अपनी इच्छा से अथवा अनिच्छा से अवश्य भाग लेना पड़ता है। यह स्वाभाविक नियम है। भेद केवल इतना है कि इच्छा पूर्वक इस महान् यज्ञ में भाग लेने से शांति और स्वर्गीय आनन्द

का अनुभव होता है और अनिच्छा से दुःख। पशु आदि जीव अथवा पशु-मनोवृत्ति रखने वाले मनुष्य भी इस सनातन यज्ञ में भाग लेते हैं, किन्तु अनिच्छा से, जो कि उनके दुःख का कारण होता है। इस के विपरीत मनुष्य को जब यज्ञ के परम तत्व का ज्ञान हो जाता है तो वह अपनी इच्छा से इस यज्ञ में भाग लेकर परम शांति लाभ करता है। वह जानता है कि वह अपने पवित्र आत्म-तत्व का विकाश दूसरों की निष्काम सेवा एवं लोक-हित के लिये अपने स्वत्वों के त्याग से कर सकता है, न कि अपने स्वार्थ के लिये अन्य प्राणियों को कष्ट देकर। इस प्रकार यज्ञ करने से वह समझने लगता है कि वह संसार चक्र का एक भाग है न कि उस से पृथक। अपने ऐश्वर्य और क्षणिक सुख एवं स्वार्थ-साधन के निमित्त अन्य प्राणियों को कष्ट देना हिंसा है और अन्य जीवों को सुख पहुंचाने के लिये स्वयं कष्ट उठाना यज्ञ है। यही यज्ञ परम शांति और सुख का देने वाला है जिसका योगिराज कृष्ण ने गीता द्वारा निष्काम कर्मयोग के नाम से प्रचार किया है। पिता का पुत्र के लिये कष्ट सहन करना यज्ञ है। पुत्र को सुखी देख कर पिता के हृदय में जो आनन्द की अनुभूति होती है वह यज्ञ का फल है। इसी प्रकार पतिव्रता स्त्री का पति की सेवा में कष्ट सहन करना यज्ञ है। पाश्चात्य देशों में वैज्ञानिकों ने जिस प्रकार विज्ञान की वेदी पर अपना समस्त जीवन तथा धन सम्पत्ति अर्पण कर दी वह यज्ञ है। आजकल मानव जाति के कल्याणार्थ जो २ नवीन आविष्कार किये गये हैं वह बिना यज्ञ के नहीं किये

गये । इन आविष्कारों के अन्वेषण करने में विज्ञान-वेत्ताओं को जिन २ आपत्तियों का सामना करना पड़ता है वह कल्पनातीत है । किन्तु उनको इन्हीं कष्टों में स्वर्गीय आनन्द का अनुभव होता है । आविष्कार का सफल होना यज्ञ का फल है । इस सम्बन्ध में यह समझना आवश्यक है कि यज्ञ भी दो प्रकार के होते हैं । एक दैवी दूसरा आसुरी । दैवी यज्ञ वह है जिसके फल से लोक-हित हो और आसुरी यज्ञ वह है जिससे अन्य प्राणियों को कष्ट हो । जैसे मेघनाद का यज्ञ अथवा पाश्चात्य देशों के वह आविष्कार जो कि युद्ध में काम में लाये जाते हैं या अन्य जीवों को कष्ट देने के लिये हैं—तोप, विषैले गैस, युद्ध के जहाज व वायुयान के आविष्कार—सब आसुरी यज्ञ हैं । अपने दुष्कर्मों से आवाहन की हुई व्याधियों से पीड़ित होकर मरने की अपेक्षा देश सेवा में प्राण विसर्जन करना दैवी यज्ञ है । इसके अतिरिक्त अनेक प्राणियों ने इच्छा से अथवा अनिच्छा से हमारे जीवन के विकाश में हमारे निमित्त जो यज्ञ किया है उनके प्रति कृतज्ञता प्रकाश करने के निमित्त वैदिक ग्रन्थों में पंच महायज्ञ करने का विधान है, जिसको मनु ने इस प्रकार वर्णन किया है :—

"विद्या पढ़ाना ब्रह्मयज्ञ है, तर्पण करना पितृयज्ञ, हवन करना देवयज्ञ, भोजन कराना भूतयज्ञ, और अतिथिसेवा करना मनुष्य-यज्ञ है ।" गीता में ज्ञान यज्ञ के विषय में कहा है कि "किसी वस्तु का दान करने की अपेक्षा ज्ञान देना कहीं अधिक श्रेष्ठ है

और ज्ञान के अतिरिक्त पवित्र और शुद्ध करने वाली दूसरी और कोई वस्तु नहीं है।" (गीता ४-३३, ३८) फिर महाभारत अनुशासनपर्व में लिखा है "सब यज्ञों में किया हुआ दान, तीर्थों में स्नान और सब प्रकार के दानों से जो फल की प्राप्ति हो ये सब अहिंसा की बराबरी नहीं कर सकते, हिंसा न करने वाले को को अक्षय पुण्य लाभ होता है और वह सदा यज्ञ कर रहा है।" (महा० अनु० ११६-४०, ४१)

हमने संक्षिप्त रूप से यज्ञ का कुछ भाव, जिस प्रकार हमारे महर्षियों ने समझा है, वर्णन किया है। अब इसके विरुद्ध यज्ञ का उद्देश्य, जैसा कि पाश्चात्य देशों ने मनन किया है, हम बतलावेंगे और यह सिद्ध करेंगे कि भारत के देवालयों में देवकार्य्य के निमित्त जो पशुहिंसा की जाती है वह वास्तव में इन्हीं पाश्चात्य देशों से अनुकरण की गई है, क्योंकि वैदिक सिद्धांत के अनुसार यज्ञ का पशुहिंसा से कोई सम्बन्ध नहीं है।

प्राचीन रोमन लोग, जिनका साम्राज्य ईसा से कई शताब्दि पूर्व समस्त यूरोप में फैला हुआ था, युद्ध में जाने से पहले जयकामना के निमित्त पुरोहितों द्वारा युद्ध देवता को सन्तुष्ट करने को पशुहिंसा करते थे। यज्ञ वेदी में पशुहिंसा करने की यह रीति रोम के समस्त प्रदेशों में प्रचलित होगई। अतएव बाइबिल के ईश्वर जहोवा के दूत मूसा ने भी इस रीति का अनुकरण किया और पशुओं का रक्त बहाकर जहोवा को सन्तुष्ट करने की व्यवस्था

निर्माण की। बाइबिल के प्रत्येक पृष्ठ में इस प्रकार पशु बलिदान का विधान है। बाइबिल की लैव्य व्यवस्था में जहोवा कहते हैं—"फिर यहोवा ने कहा इसरायल के घराने वालों में से अथवा उनके बीच रहने वालों में से कोई मनुष्य क्यों न हो, जो किसी प्रकार का लोहू खावे, मैं उस लोहू खाने वाले के विमुख हो के उसको उसके लोगों के बीच से नष्ट कर डालूंगा क्योंकि शरीर का प्राण जो है सो लोहू में रहता है और उसे मैंने तुम लोगों को वेदी पर चढ़ाने के लिये दिया है जिससे तुम्हारे प्राणों के लिये प्रायश्चित्त किया जावे क्योंकि लोहू में प्राण जो रहता है सो लोहू ही से प्रायश्चित्त होता है।" यह व्यवस्था मसीही मत की आधार शिला है जो कि बाइबिल की नवीन धर्म व्यवस्था में जहोवा के इकलौते पुत्र के रक्तस्राव द्वारा मुक्ति-साधन का रूप धारण करती है। जब हम वैदिक यज्ञ के उपर्युक्त सिद्धांत की इस हिंसात्मक मसीही मत के यज्ञ के उद्देश्य से तुलना करते हैं तो हमको इन दोनों मतों के सिद्धांतों की वास्तविकता का आभास होता है। यज्ञ के इस भीषण हिंसात्मक सिद्धांत का अनुकरण वाममार्गियों द्वारा भारत में भी किया गया, जिससे लोग प्राचीन वैदिक यज्ञ के मन्तव्य को भूल कर पशुहिंसा को ही यज्ञ समझने लगे। वाममार्गियों के इस मत की पुष्टि में मानव-धर्म-शास्त्र में लिखा है :—

"अग्निहोत्री द्विज दीर्घ आयु की इच्छा करने वाला नवीन अन्न से इष्टि किये बिना नवान्न भक्षण न करे और पशुयाग किये

बिना मांस भक्षण न करे। नवीन अन्न और पशु से यजन बिना अग्नि इसके प्राण को खाने की इच्छा करता है क्योंकि अग्नि नवीन अन्न और मांस का अत्यन्त अभिलाषी है।"

(अध्याय ४—२७, २८)

"मधुपर्क या श्राद्ध में विधि से नियुक्त हुआ जो मांस भक्षण न करे वह मर के इक्कीस बार पशुयोनि में जन्म लेता है।"

(अध्याय ५-३६)

ब्रह्मा ने स्वयं ही यज्ञ की वृद्धि के लिये पशु बनाये हैं इसलिये यज्ञ में पशुवध नहीं है।" "मधुपर्क, यज्ञ, श्राद्ध, तथा देवकर्म इनमें ही पशुवध करे अन्यत्र नहीं करे यह मनु ने कहा है।"

(अध्याय ५-३९, ४१)

"कुत्तों से मारे हुए का मांस पवित्र है और व्याघ्र चील आदि तथा चांडाल आदि दस्युओं के मारे पशु का मांस पवित्र है ऐसा मनु ने कहा है।" (अध्याय ५-१३१)

यद्यपि मनु के नाम से यज्ञ में पशुवध तथा मांस भक्षण का प्रतिपादन किया गया है तथापि वैदिक सिद्धांत की छाया हम को मनु संहिता में भी मिलती है, वह इस प्रकार है।

"मांस की उत्पत्ति और प्राणियों के वध और बन्धन को देख कर सब प्रकार के मांस भक्षण से बचे।" (अ० ५-४९)

इस सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों का यह मत है कि वैदिक काल में यज्ञों के अवसर पर पशुवध किया जाता था तथा

पाश्चात्य देशों ने भी इस प्रकार पशुवध करके यज्ञ करने की रीति भारत से ही सीखी है। वैदिक काल के परम पुनीत महर्षियों के प्रति इस दोषारोपण का हम घोर विरोध करते हैं। वास्तव में जैसा कि हम सिद्ध कर चुके हैं पाश्चात्य देशों से यह हिंसात्मक भाव भारत में आया है। यदि हम धार्मिक सिद्धान्तों के भारत में आयात और निर्यात (Export and Emport) का हिसाब लगावें तो हम को यह विदित होगा कि भारत से अहिंसा धर्म का निर्यात हुआ तो आयात यज्ञ में पशुवध की व्यवस्था। शुद्ध पवित्र वैदिक धर्म-तत्व का निर्यात हुआ तो आयात एक निरंकुश पुरोहितशाही एवं ईश्वर-कर्तृक शासन का जिससे भारत भिन्न २ जातियों में विभाजित होगया और इसकी शक्ति क्षीण होगई। पाश्चात्य देशों में जब यहूदी मत का प्राबल्य होने लगा और लोग ईश्वर और धर्म के नाम से महान अत्याचार करने लगे, जिसका प्रभाव जैसा कि हम सिद्ध कर चुके हैं भारत में भी पड़ा तब भगवान बुद्ध की आदर्श शिक्षाओं का निर्यात हुआ जिसका परिणाम यह हुआ कि यहूदी मत का स्थान ख्रीष्ट मत ने ले लिया। इस मत की नवीन धर्म व्यवस्था में जो २ आदर्श शिक्षाओं की अभिव्यक्ति हम देखते हैं वह सब बौद्ध ग्रन्थों से ही उद्धृत की गई हैं। इसकी पुष्टि में स्वर्गीय श्री गंगाप्रसाद जी ने अपनी पुस्तक Fountain-head of religion (धर्म का आदि स्रोत) में अनेक उदाहरण देकर यह सिद्ध किया है कि

ईसा के जन्मकाल के समय पैलेस्टाइन में बौद्ध धर्म का प्रचार था और ईसाई लोगों के सब आचार विचार बौद्ध लोगों से मिलते जुलते हैं। बप्तिस्मा की प्रथा ईसाइयों ने बौद्ध लोगों से सीखी है। किन्तु दुर्भाग्य से खीष्ट मत पर यहूदी मत की पूरी छाप होने से खीष्ट मत के द्वारा संसार का कोई विशेष उपकार नहीं हुआ है। वह जेहोवा जो मूसा द्वारा यहूदी मत का निर्माणकर्त्ता है और जिसने अपनी घोर इच्छाओं से घोर धर्मोन्माद का परिचय दिया है फिर अकस्मात ईसा के रूप में ऐसी उच्च शिक्षा नहीं दे सकता कि यदि कोई तुम्हारे एक गाल में थप्पड़ मारे तो दूसरा गाल फेर दो। वास्तव में ईसाई मत की उच्च शिक्षाओं का निर्यात केवल भारत से हुआ है।

(६) शिल्प विद्या का अपमान

किसी देश की आर्थिक उन्नति विशेषतः शिल्प विद्या के विकास व हस्त-व्यवसाय पर निर्भर होती है। पाश्चात्य देशों ने जो कल्पनातीत उन्नति इस बीसवीं शताब्दि में की है उस का मूल कारण विज्ञान तथा शिल्पकला ही है। किन्तु हमारे शास्त्र-कारों ने इस विद्या को ही अस्पृश्य मान कर इस से अपना सम्पर्क हटा लिया। अतएव लोहा, लकड़ी, पत्थर आदि जड़ वस्तुओं द्वारा जीविका कमाने वाले अस्पृश्य समझे जाने लगे। मनुजी तो यहां तक कहते हैं कि—"खोटे विवाहों से, कर्म के लोप से, वेद न पढ़ने से, ब्राह्मणों की आज्ञा न मानने से,

शिल्प व्यवसाय करने से, शूद्र सन्तान से, गाय, घोड़े और सवारियों से, खेती तथा राजा की नौकरी से कुल पतित हो जाते हैं।" अध्याय ३—६३, ६४।

"लोहार, निषाद, तमाशा करने वाले, सुनार, बांस का काम करने वाले, शस्त्र बेचने वाले, कुत्ते पालने वाले, कलाल, धोबी, रंगरेज, निर्दयी और जिसकी स्त्री व्यभिचारिणी हो, इनका अन्न भोजन न करे।" अध्याय ४—२१५, २१६।

"बढ़ई का अन्न सन्तति का नाश करता है। स्वर्णकार का आयु को, वैद्य का अन्न पीप के समान और सूद लेने वालों का अन्न विष्ठा के समान है।" अध्याय ४—२१८, २१६, २२०।

"कोई कहते हैं खेती अच्छी है किन्तु यह वृत्ति साधुओं से निन्दित है।" (१०—८४)

इस के अतिरिक्त मनु जी ने कई प्रकार की आवश्यक वस्तुओं का व्यापार करने का निषेध किया है। ये सब व्यवसाय आर्य द्विजों के करने योग्य न रहे। वैद्यों के ऊपर भी मनु जी की कुदृष्टि पड़ी है। वैद्य का अन्न पीप के समान बतलाया है। लोथ की अशुचिता के कारण शस्त्र-चिकित्सा का काम (Surgery) जो कि चिकित्सा का प्रधान अँग है द्विजों के लिये वर्जित किया गया, जिस का परिणाम यह हुआ कि हमारा आयुर्वेदिक ज्ञान अधूरा रह गया। मनु जी के मृत शरीर को अस्पृश्य बतलाने के कारण हम आयुर्वेद के मुख्य अँग शस्त्र-चिकित्सा से वंचित

रह गये। यदि उदरपूर्त्ति के निमित्त द्विज लोग लोहार, बढ़ई तथा चमड़े का काम कर भी लें तो उन को जाति से बहिष्कार कर अस्पृश्य या अन्त्यज की उपाधि दी जाती थी। इन्हीं लोगों का जब एक बड़ा समूह बन गया तो आधुनिक काल के स्मार्तों ने एक पंचम वर्ण का आविष्कार कर इन लोगों को उसके अन्तर्गत कर दिया। समस्त विश्व का आदि शिल्पकार जो विश्वकर्मा के नाम से प्रख्यात है अब इस नई व्यवस्था के अनुसार अछूत हो गया और उस की सन्तान केवल अछूत ही नहीं समझे जाते हैं वरंच वे मनुष्य संज्ञा से भी हटा दिये गये। देश के विद्वज्जनों ने जाति बहिष्कार के भय से दस्तकारी और विज्ञान (Experimental Sciences) से हाथ खींच लिया और शिल्पविद्या उन लोगों के हाथ चली गई जो विद्याध्ययन से वंचित किये गये। इस का भयंकर दुष्परिणाम यह हुआ कि वैज्ञानिक संसार के नकशे से भारत का नाम सदा के लिये काट दिया गया। प्रातःस्मरणीय स्वामी विवेकानन्द जी कहते हैं—"वह धर्म जो पतित और असहाय मनुष्यों को उठाने में प्रयत्नशील नहीं होता वह धर्म, धर्म कहलाने योग्य नहीं है। जिस देश के विद्वान लोग दो हजार वर्ष तक यही विचार करने में तल्लीन हों कि दाहिने हाथ का पकाया हुआ खाना चाहिये या बायें हाथ का वह देश अवश्य पतन होने योग्य है।"

हमारे शास्त्रकारों की शिल्पकार्य्य, कृषि तथा हस्तव्यवसाय के लिये ऐसी घृणा के दो मूल कारण हो सकते हैं। एक यह

कि ये लोग संसार को मायाजाल समझ कर इस लोक की सब जड़ वस्तुओं से जीविका करना पाप समझते थे। ब्राह्मण के लिये इन व्यवसायों को करने से तो भीख मांगना कहीं अच्छा बतलाया है। दूसरा यह कि रोमन लोगों की वर्णव्यवस्था का जब ब्राह्मणों ने अनुकरण किया तो हस्तव्यवसाय से आजीविका करने वाले, जैसे कि रोम में पतित समझे जाते थे वैसे ही, भारत में भी पतित समझे गये और चातुर्वर्ण के बाहर होने से इन को अछूत की उपाधि से अलंकृत किया गया। यह कहना नितान्त असत्य है कि अनार्य दस्यु लोग ही अछूत समझे जाते थे। किन्तु इस पंचम वर्ण में वे आर्य्य लोग भी सम्मिलित हैं जो किसी कारण से जातिच्युत हो गये अथवा मनु जी के दण्ड-विधान के अनुसार जिन के माथे पर या किसी और अंग पर राजाज्ञा से कलंक का टीका लगा दिया गया था। यह हर्ष का विषय है कि मनु जी के यह कड़े नियम अब काल चक्र के परिवर्तन से मृतप्राय हो गये हैं और उन की जाति-बहिष्कार की धमकियां अतीत काल में विलीन हो गई हैं।

(७) कृत्रिम वर्ण-व्यवस्था

प्राचीन रोम के इतिहास का अध्ययन करने से पता चलता है कि कृत्रिम वर्णव्यवस्था की योजना करने का श्रेय रोमन लोगों को है। रोम के अधिपति जस्टीनियन का समाज-विधान

ही जन्मगत वर्णव्यवस्था का मूल है। यह विधान प्रारम्भ में पुरोहितों के स्वत्वों के संरक्षणार्थ तथा उनका समाज में आधिपत्य स्थापित करने के लिये निर्माण किया गया था। पुरोहित सब मनुष्यों में श्रेष्ठ तथा सारे सामाजिक एवं धार्मिक तत्वों का संरक्षक तथा अभिभावक, राजा तथा प्रजा का शासक, ईश्वर द्वारा अभिषिक्त, सब बन्धनों से परे था। उस के नीचे राजा था जो कि पुरोहित के आदेशानुसार शासन करता था। इन दोनों के नीचे वणिक इन की विलास सामिग्री तथा ऐश्वर्य उपभोग का व्यय सहन करने को बाध्य था। इन सब से अधम श्रेणी में शिल्पकार एवं हाथ से व्यवसाय करके जीविका करने वाले क्रीत दास थे। यह व्यवस्था रोम के विस्तृत साम्राज्य के सब देशों में कार्यरूप में लाई जाती थी। ब्राह्मणों के समान मिश्र देश के पुरोहित भी, जिस श्रेणी में मनुष्य का जन्म हुआ उस का, उस श्रेणी से ऊपर उठना असम्भव कर देते थे। इस उद्देश्य से उन्होंने सारी संस्थाओं और व्यवस्थाओं में साम्प्रदायिकता की मोहर लगा दी थी और इस प्रकार के दण्ड-नीति का विधान किया जिस से उपर्युक्त उद्देश्य सफल हो सके। लोगों को वर्णच्युत कर देने अथवा आंशिक व सम्पूर्ण जाति बहिष्कार की धमकी देकर उन को नियत सीमा के अन्दर बन्द रखा जाता था। इस प्रकार की सामाजिक संस्था तथा दण्ड नीति की सहायता से सारी जाति के बहिष्कृत लोगों का एक पंचम

वर्ण उत्पन्न किया गया जो सदा के लिये अपवित्र और बहिष्कृत होने के कारण अपने ऊपर लगाये गये कलंक को कभी मिटा नहीं सकता था। इन लोगों को रोमन लोग हेलट्स (Helots) अर्थात् अछूत कहते थे। ये लोग कभी नागरिक (Citizen) नहीं हो सकते थे। इस वर्णव्यवस्था की ठीक हूबहू नकल भारत में भी की गई और ऐसा प्रतीत होता है कि आधुनिक काल का धार्मिक भारत प्राचीन काल का रोम है। यही व्यवस्था बाद को रोमन साम्राज्य के पतन का कारण हुई।

हम सिद्ध कर चुके हैं कि वैदिक काल में जन्म से वर्ण स्थिर करने का कोई विधान नहीं था प्रत्युत गुण-कर्मानुसार ही प्रत्येक व्यक्ति का वर्ण स्थिर किया जाता था। भागवत् पुराण में लिखा है:—

"जो जो लक्षण किसी वर्ण विशेष को निर्दिष्ट करने को कहे गये हैं यदि वह लक्षण अन्यत्र पाये जायं तो लक्षणों के अनुसार वर्ण स्थिर करना चाहिये।"

इसी प्रकार महाभारत के युधिष्ठिर-सर्प सम्वाद के उपाख्यान में वर्णव्यवस्था का प्रकरण इस प्रकार है:—

युधिष्ठिर बोले—ब्राह्मण वह है जिस में सत्यता, दानशीलता, क्षमा, नम्रता, अहिंसा, एकाग्रता और दया ये सब गुण हों। सर्प ने कहा—हे युधिष्ठिर, शूद्रों में भी सत्य, दान, क्रोध का न होना, अहिंसा, प्राणीमात्र के लिये दया ये सब गुण देखे

जाते हैं। युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—यदि जन्म से उत्पन्न हुये किसी शूद्र में ब्राह्मण के गुण पाये जायं और द्विज में ये न पाये जायं तो शूद्र को न शूद्र कहना चाहिये और न ब्राह्मण को ब्राह्मण। हे सर्प, ब्राह्मण वही कहा गया है जिस में ब्राह्मण के समान गुण हों और जिस में ये गुण न हों वह शूद्र है।" अतएव महाभारत-काल तक जन्म से वर्ण स्थिर करने की व्यवस्था न थी। किन्तु पौराणिक काल में, जब कि रोमन लोगों की वर्णव्यवस्था की प्रतिध्वनि भारत में सुनाई दी तो, हमारे व्यवस्थापकों ने अपने स्वार्थसिद्धि के निमित्त ऐसे नियम बनाये जिन से कि उन का आधिपत्य और प्रभुत्व रोम के पुरोहितों के समान स्थायी हो। तत्कालीन सामाजिक एवं राज-नैतिक परिस्थिति से भी ब्राह्मणों को इस कार्य को साधन करने में बड़ी सहायता मिली। मानव-धर्म-शास्त्र में हम वर्णव्यवस्था तथा पुरोहितशासन का विधान उपर्युक्त रोम के सामाजिक व्य-वस्था के अनुरूप इस प्रकार देखते हैं:—

"ब्राह्मण का उत्पन्न होना ही पृथ्वी में श्रेष्ठ होता है क्योंकि सम्पूर्ण जीवों के धर्मरूपी खजाने की रक्षा के लिये वह प्रभु है। जो कुछ जगत में पदार्थ हैं वे सब ब्राह्मण के हैं। ब्रह्मोत्पत्ति रूप श्रेष्ठता के कारण ब्राह्मण सम्पूर्ण को ग्रहण करने योग्य है।" (अध्याय १—६६, १००)

"नीच जाति का जो मनुष्य उच्च जातियों का काम कर के आजीविका कमाता है राजा को चाहिये कि तत्काल उसका

माल और धन जब्त कर ले और उसे देश से निकाल दे।" (अ० १०—९६)

"अपने वर्ण के कामों को अधूरी तरह करना दूसरे वर्ण के कामों को पूर्ण रूप से करने की अपेक्षा कहीं अच्छा है क्योंकि जो मनुष्य दूसरे वर्ण का व्यवसाय करके आजीविका कमाता है वह तत्काल पतित हो जाता है।" (अ० १०—९७)

यदि ब्राह्मण अन्न का भोजन और नैवेद्य बेचने का व्यापार करता है तो वह और उस के वंशज कृमि बन कर कुत्ते की विष्ठा में पड़ते हैं।" (१०—९७)

"नमक, मांस या लाख बेचने से वह पतित हो जाता है। दूध बेचने से वह एक दम गिर कर शूद्र वर्ण में चला जाता है।" (अ० १०—९२)

"थोड़ा सा हस्त-व्यवसाय करके अपने आपको शिल्पी बनाने से तो ब्राह्मण के लिये भीख मांगना अच्छा है।"

"जिन लोगों पर कलंक का टीका लगा हो उन के सम्बन्धियों को, क्या मातृकुल के क्या पितृकुल के, सब को उनका परित्याग करना चाहिये। उनका करुणा या आदर कुछ न करें।"

"उन के साथ रोटी बेटी का सम्बन्ध नहीं रखना चाहिये, न उनके साथ मिलकर यज्ञ और पाठ करना चाहिये। सार्वजनिक बन्धनों से अलग वे पृथ्वी पर दुःख झेलते फिरें।"

शूद्र को बुद्धि और होमशेष का भाग न दे। उस को धर्म उपदेश न करे और व्रत भी न बतावे। जो इस को धर्मोपदेश और व्रत को बतावे वह उस शूद्र के साथ असंवृत नाम बड़े अन्धकार वाले नरक म गिरता है। (४—८०, ८१)

उपर्युक्त मनु की आज्ञाओं से यह प्रगट होता है कि इस दंड नीति द्वारा सारी जाति से सर्वथा बहिष्कृत कर देने से अभागी और सदा के लिये अपमानित अछूत जाति की उत्पत्ति हुई। वर्णाश्रम धर्म के मानने वाले हिन्दुओं के लिये अछूत अभी तक एक घृणोत्पादक "वस्तु" बना हुआ है। कहीं वह कलंकित व्यक्ति दूसरे देश में अपने कलंक को छिपाकर इससे छूट न जाय इसलिये अपराधी के माथे पर गरम लोहे से दाग दिया जाता था। चारों वर्ण के लोगों में से ऐसे पतित मनुष्य को जल, अग्नि और अन्न देने वाले के लिये पतित होने का दड था। कोई हिन्दू घर उसके लिये नहीं खुलता था। अतएव वह चौर कर्म में प्रवृत्त होकर अपनी उदरपूर्ति करता था। ब्राह्मणों को इस प्रकार की दंडनीति को कार्यरूप में लाने के लिये राजाओं से सहायता मिलती थी, जिनसे मिलकर ब्राह्मण अपना कार्य करते थे।

प्रायः यह कहा जाता है कि इस प्रकार वर्णव्यवस्था करने तथा असवर्ण विवाह निषेध करने से हमारे आचार्य्यों ने शुद्ध रक्त की रक्षा की और देश को वर्ण संकर होने से बचा लिया।

इस विषय में महाराष्ट्र के प्रख्यात विद्वान् श्री महादेव गोबिन्द रानाडे लिखते हैं :—

"The Brahmans settled in Northen India appear to have been about the beginning of Christian era submerged by fresh hordes of Scythians, Saks, Huns who subverted the Roman Empire. In their anxiety to destroy the Buddhism and Jainism the Brahmans allied themselves with the Barbarians of the land. The Gods and Godlings of these people who had hitherto no place in the old Hindu pantheon were recognised. Why then this insatiate craving for claiming descent from pure Vedic Rishies."

अर्थात्—ईसा सम्वत् के आरम्भ काल में उत्तरी भारत में बसे हुए ब्राह्मण लोग सीदियन शक और हूण जातियों द्वारा, जिन्होंने रोमन साम्राज्य का ध्वंस किया था, दबाए जाकर मिला लिये गये। बौद्ध तथा जैन मत को निर्मूल करने की चिन्ता में ब्राह्मण लोगों ने देश की अनार्य जातियों से मेल कर लिया। इन लोगों के देवी देवता, जिनको प्राचीन हिन्दू देवताओं में कोई स्थान प्राप्त नहीं था, स्वीकार किये गये। तब क्यों शुद्ध वैदिक ऋषियों की सन्तान होने की इतनी उत्कट आकांक्षा की जाती है!

हिन्दू समाज की अवनति के उपर्युक्त मुख्य सात कारण हैं जिनको समझाने का मैंने प्रयत्न किया है। संसार में आज तक इसी प्रकार अन्य देशों में भी उत्थान पतन एवं पुनरुत्थान हुए हैं। जिनका इतिहास देखने से हमको पहली बात, जो कि प्रकृति के एक निश्चित नियम को निर्देश करती है, यह पता लगाती है कि जब किसी देश के निवासियों में आत्मविश्वास की मात्रा कम होने से ज्ञान की ज्योति मंद पड़ जाती है तो मांग और पूर्ति के सिद्धांत (Law of supply and demand) के अनुसार दो प्रकार के मनुष्य प्रादुर्भूत होते हैं। एक तो स्मार्त दूसरे उनके भ्राता टीकाकार। जिज्ञासा अर्थात् अन्वेषण करने की शक्ति (spirit of enquiry) का लोप होने से हम स्मृति और उनकी टीकाओं के पन्ने उलटने में अपना जीवन व्यतीत करते हैं। प्रत्येक टीकाकार अपने विचारों व भावनाओं के अनुसार मनमाना अर्थ करता है। और लोग आंखें मीच कर उन पर विश्वास करने लगते हैं। इसी अन्धविश्वास से प्रचलित रूढ़ियों का जन्म हुआ जिससे हमारे समाज का पतन हुआ है। जब हमारे स्मृतिकार याज्ञवल्क्य व पाराशर की स्मृतियों को टटोल कर जाति-बहिष्कार के नियमों का निर्माण कर रहे थे अथवा स्वर्ग का ऐश्वर्य तथा नरक की यातनाओं का चित्र खींच कर देश की आर्य महिलाओं को अग्नि में भस्मीभूत करने के कठिन नियम बनाने में संलग्न थे, जब हमारे ज्योतिषाचार्य्य राहु केतु की दशा निवारण करने

के लिये तुलादान, छायादान, ब्रह्मभोज आदि का विधान कर रहे थे, और जब कि हमारे शास्त्रकार देवताओं तथा मृतक आत्माओं की पाशविक इच्छाओं की पूर्ति के निमित्त पशु-बलि-दान, श्राद्ध तर्पणादि की व्यवस्था बनाने में अपना अमूल्य समय व्यर्थ नष्ट कर रहे थे, उस समय यूरोप में सर आइजक न्यूटन, गेलीलियो, केपलर प्रभृति विद्वान लोग प्रकृति के गुप्त रहस्यों को उद्घाटन करने में अविराम परिश्रम कर रहे थे। ये महानुभाव सब सांसारिक सुख और अपने प्राणों तक का भी मोह त्याग कर प्रकृति देवी की सच्ची पूजा करते थे, जिनकी तपस्या के फल स्वरूप आज समस्त मानव जाति लाभ उठा रही है। यूरोप के वैज्ञानिक प्रकृति के अनन्त और सूक्ष्म नियमों की खोज में स्वर्ग के वैभव और इन्द्र के ऐश्वर्य को भी तुच्छ समझते हैं। उनके लिये यह समस्त संसार ही प्रकृति का विशाल मन्दिर है। इस भूमण्डल में ऐसा कोई कठिन धाम नहीं जहां यूरोप के वैज्ञानिक अपने प्राण हथेली पर लेकर नहीं जाते। ऐसा कोई पर्वत नहीं जिसके शिखर पर चढ़ने का वे प्रयत्न नहीं करते। ऐसा कोई समुद्र नहीं जिसको उन्होंने पार न किया हो। सारांश यह है कि विज्ञान द्वारा ही ये परमात्मा की असीम शक्ति का अनुभव करते हैं। यदि आज यूरोप समस्त पृथ्वी का राजा है तो कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि विद्या में ही शक्ति है। यही परमात्मा की सच्ची पूजा है। इसके विपरीत हमारे आचार्यों ने स्वार्थपरता,

अभिमान, और साम्प्रदायिकता का बीज बोया है, जिस से भारत अभी तक दासत्व से विमुक्त नहीं हुआ। यह हमारा दुर्भाग्य है कि हमारे धर्मध्यक्षों ने विज्ञान को, जिसके कारण पाश्चात्य देशों ने आशातीत उन्नति की है, यह कह कर तिरस्कार किया कि यह जड़वाद है, यह नास्तिकवाद है। यह उन्होंने नहीं सोचा कि कोई जाति नास्तिकता वा जड़वाद के आधार पर वास्तविक उन्नति नहीं कर सकती। पूर्ण नास्तिक वा जड़वादी वह असभ्य है जिस में आत्मविश्वास न हो और जो अनियमित रूप से निरुद्देश्य होकर अपना ऐहिक जीवन भवसागर के उत्ताल तरंगों में इधर उधर टक्कर खाता हुआ व्यतीत करता है। पाश्चात्य देशों ने कठिन तपस्या व घोर परिश्रम करके वह अद्भुत शक्ति उपलब्ध की है जिससे उनका समस्त भूमण्डल में आधिपत्य स्थापित है। जिस काम में हाथ डालेंगे उसे पूरा करके छोड़ेंगे। इसके विपरीत बुद्धि विवेक को तिलाञ्जलि देकर जो अन्धविश्वास वा धार्मिक एवं साम्प्रदायिक कट्टरता आज हम इस अभागे देश में देखते हैं यही नास्तिकता है और यही जड़वाद है। नास्तिकवाद स्वतन्त्र विचारों का गला घोट कर मनुष्य को पशुवत बना देता है। इसके विपरीत यथार्थ आस्तिक वही है जो संसार के प्राणी-मात्र को भगवान का रूप समझता है तथा उनकी सेवा को श्री भगवान् की मुख्य सेवा और पूजा मान कर दुःखित और आर्त प्राणियों की सेवा में प्रवृत्त रहता है। किन्तु जो मनुष्य ईश्वर के

शरीरभूत जगत् के प्राणियों का आदर नहीं करता, प्रत्युत उनकी उपेक्षा करता है, उनके प्रति द्वेष व घृणा करता है और उनका उपकार न कर सदा उनकी हानि करने में ही धर्म्म की मर्यादा समझता है वह प्रगट रूप से ईश्वर में विश्वास रखते हुए भी नास्तिक है। इस समय बड़ा लम्बा चौड़ा पूजा पाठ करने वाले लोगों के प्रति जो अश्रद्धा हम देखते हैं वह इस कारण से है कि वे लोग सदा अपने स्वार्थ-साधन में रत रहते हैं तथा उसकी पूर्ति के लिये दूसरों की हानि करने में कुछ भी संकोच नहीं करते। परोपकार में प्रवृत्त होना तो यह जानते ही नहीं। ऐसे पुरुष वचन से आस्तिक होने पर भी कार्य रूप से नास्तिक हैं। यह स्वार्थपरता एवं अहंमन्यता हमको पार्थिव सभ्यता की ओर अग्रसर करती है। पाश्चात्य देशों के वैज्ञानिक, जो प्रयोगशाला में बैठ कर मानव-जीवन के दुःखों का भार हल्का करने के निमित्त कठोर परिश्रम करते हैं, वे यथार्थ में आस्तिक हैं। उन देशों में जो स्वार्थपरता का भाव आजकल हम देखते हैं उसका मूल कारण यह है कि उन्होंने अभी अपनी पाशविक मनोवृत्ति को पूर्णतया नहीं छोड़ा है, तथापि हमको उनके इस अवगुण के कारण उनका तिरस्कार नहीं करना चाहिये, प्रत्युत उनके सद्गुणों को ग्रहण करना चाहिये। यूरोप के इतिहास के पढ़ने से यह प्रतीत होता है कि विज्ञान-मार्तण्ड के उदय होने के पूर्व माध्यमिक काल में यूरोप की भी यही दशा थी जो आजकल भारत की है। पोप के

आधिपत्य में धार्मिक कट्टरता का साम्राज्य स्थापित होगया था। विज्ञान को धर्म व पवित्र पुस्तक बाइबिल के सिद्धांतों के विरुद्ध कह कर ठुकरा दिया था। किन्तु सत्य की जीत होती है। विज्ञान के प्रकाश के सामने निदान पोप का साम्राज्य यूरोप से उठ गया और अब वैज्ञानिक यूरोप बाइबिल के विवेकशून्य सिद्धांतों के बन्धन से मुक्त है।

क्या यह न्याययुक्त है? क्या हम अपने देश व जाति का हित साधन इससे कर सकते हैं कि मुट्ठी भर उच्च कुलाभिमानी मनुष्यों के अनुचित विशेषाधिकारों के संरक्षण करने के निमित्त इस अभागे देश के करोड़ों निवासियों का गला घोट दें और उन को मनुष्यता के जन्मसिद्ध अधिकारों से भी वंचित रखें? क्या "आत्मवत् सर्वभूतेषु" व "वसुधैव कुटुम्बकम्" आदि मन्त्रों का मुँह से उच्चारण करते हुये हमको अपने ही देश और अपनी ही जाति के मनुष्यों को अछूत कह पददलित करना शोभा देता है? क्या विद्या या धर्म का यही अन्तिम उद्देश्य है कि हम अपने को श्रेष्ठ कहकर दूसरों को नीच समझकर उनको न केवल विद्या प्राप्त करने ही से वंचित रखें वरंच उनको देवालय में जाकर प्रार्थना भी न करने दें? क्या धर्म की यही मर्यादा है कि पतितपावन व दीनबन्धु भगवान को अपने पददलित भक्तों की, जो भगवान की शरण में आना चाहते हैं, सहायता करने से रोक दें?

भारत के सच्चे देशहितैषियों द्वारा एसेम्बली में विचारार्थ उपस्थित किये जाने वाले मन्दिर-प्रवेश तथा अछूत-निवारण इन दो निर्दोष विधानों का घोर विरोध करने से क्या हम हरिजनों के प्रति किये हुए उन भीषण अत्याचारों की मात्रा को अधिक नहीं बढ़ा रहे हैं जो हमने तथा हमारे पूर्वजों ने किये हैं ? क्या इस क्षति की पूर्ति करने का यही साधन है ? हम इस सम्बन्ध में आपका ध्यान भारत के भूतपूर्व गवर्नर-जनरल लौर्ड विलियम बेंटिक के शासनकाल की ओर ले जाते हैं जब कि भयंकर एवं अमानुषी सती प्रथा को निवारण करने के लिए बृटिश सरकार द्वारा विधान तैयार किया जा रहा था। हमारे पूर्वजों ने शास्त्रों की दुहाई देकर जिस प्रकार उक्त विधान का विरोध किया था वह किसी से छिपा नहीं है। इस पैशाचिक प्रथा को धर्म का अङ्ग बतलाते हुए यह कहा गया कि यह प्रथा वेद-विहित है। अतएव सरकार को धर्म में हस्ताक्षेप न करने की चेतावनी दी गई। किन्तु भारत-हित-कामना से प्रेरित होकर तत्कालीन उदार सरकार ने इन चेतावनियों की उपेक्षा कर इस अमानुषी प्रथा को कानून द्वारा सदा के लिये भारत से निर्वासित कर दिया। हम देखते हैं कि इसी प्रकार अब भी मन्दिर-प्रवेश तथा अछूत-निवारण विधान के सम्बन्ध में वही परिस्थिति हमारे सामने विद्यमान है। वही धर्म में हस्ताक्षेप न करने की धमकियां वही शास्त्र-मर्य्यादा की दुहाई ! किन्तु कालचक्र बड़ा प्रबल है।

वह ऐसी शास्त्रीय व्यवस्थाओं की किंचितमात्र भी परवाह न कर अपना कार्य्य अविराम गति से कर रहा है। यदि अब भी हम इतिहास की इन शिक्षाओं की अवहेलना करते हैं तो यह निश्चय-पूर्वक कहा जा सकता है कि इस समय हमारे लिये इस भूमण्डल में कहीं भी ऐसा स्थान नहीं है जहां हम ऐसी अमानुषी एवं विवेकहीन शास्त्रीय व्यवस्थाओं को कार्य्यरूप में ला सकें।

जैसा कि हम सिद्ध कर चुके हैं हमारे शास्त्रकार ऐसी विवेक-शून्य सामाजिक व्यवस्था के जन्मदाता न थे। मध्यकाल में ऐसी व्यवस्था इस भूमण्डल के प्रायः सब देशों में प्रचलित थी। ईस्वी सन् १८७१ तक जापान में भी ऐसा ही सामाजिक विधान प्रचलित था जैसा कि इस समय तक भारत में हम देखते हैं। थोड़े से आत्माभिमानी जापानियों ने अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिये अधिकांश देश-निवासियों को पददलित कर रक्खा था, किन्तु इस वर्ष उच्च-कुलाभिमानी जापानियों ने देश की भावी उन्नति के लिये अपने स्वार्थ-पूर्ण सब विशेष अधिकारों का परित्याग कर यह घोषणा कर दी कि जापान में मनुष्य २ के बीच भविष्य में किसी प्रकार की असमानता व भेद-भाव नहीं समझा जायगा। इस घोषणा के फलस्वरूप जापान जैसे छोटे देश में ऐसी जागृति हुई कि उसने बड़े बड़े यूरोपीय महा राष्ट्रों का सामना करके अपनी बढ़ती हुई शक्ति का परिचय दिया। यही कारण है कि आज जापान का समस्त भूमण्डल में

सन्मान है और बड़े साम्राज्यवादी देश भी जापान की शक्ति से डरते हैं और उसका लोहा मानते हैं। जो बात सन् १८७१ में जापान में सम्भव हुई क्या आज वही बात भारत में सम्भव नहीं हो सकती ?

हमारा कर्तव्य

पाठकवृन्द ! हमने इस छोटी सी पुस्तिका में यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि संसार की सर्वोच्च शिक्षाओं, आदर्श सामाजिक एवं राजनैतिक विधानों व धर्म्म के मूल तत्वों की अभिव्यक्ति केवल भारत ही में हुई। इसी देश ने समस्त मानव जाति को मनुष्यता का पाठ पढ़ाया है। यह देश न केवल धन धान्य से पूरित था वरंच इसमें लौकिक तथा पारलौकिक उन्नति की समस्त विभूतियां विद्यमान थीं, जिस कारण से समस्त मानव जाति इस देश का गुरु भाव से आदर करती थी। हम यह भी सिद्ध कर चुके हैं कि इस देश के पतित तथा पादाक्रान्त होने का मूल कारण हमारा सर्वोच्च वैदिक शिक्षाओं का परित्याग करना तथा उनके स्थान पर अपने ऐहिक स्वार्थ-साधन करने तथा भीषण एवं पैशाचिक प्रभुत्व स्थापित करने के लिये अन्य असभ्य देशों की दुष्प्रथाओं व रूढ़ियों को अपनाना है। यद्यपि हमने इस लेख में कुछेक सामाजिक कुरीतियों का, जो धर्म्म का शुद्ध रूप न जानने के कारण इस देश में बर्ती जा रही हैं, निरूपण करने का प्रयत्न

किया है तथापि सभ्य पाठक इसी प्रकार अन्य अनेक प्रचलित रू-ढ़ियों पर विचार कर सकते हैं जिन्होंने हिन्दू समाज में घर किया हुआ है, जिनके कारण हमारा समाज पंगु बना हुआ है और जो कि वैदिक धर्म के मूल तत्वों को इस प्रकार जकड़े हुए हैं कि उन को स्वतन्त्र रूप से फलने फूलने का अभी तक कोई अवसर नहीं मिला है। इन तत्वों का मूलाधार, जैसा कि वेदादि धर्मग्रन्थों में निरूपण किया हुआ है, यह है कि जिस आचरण से हम संसार के लिये अधिक से अधिक उपयोगी हो सकते अथवा जिस आचरण से हम अन्य जीवों को अधिक से अधिक सुख पहुंचा सकते हैं वह धर्म है तथा इसके विपरीत कार्य धर्म्म के विरुद्ध होने से त्याज्य हैं। इस कसौटी पर हमको अपने भाव, विचार व अनेक सामाजिक प्रथाओं की परीक्षा करके अपने व देश के हिताहित का परिज्ञान हो सकता है।

पाठकगण! देश की ऐसी शोचनीय अवस्था को देख कर हमारा यह परम कर्त्तव्य है कि हम वेदों की आदर्श शिक्षाओं के आधार पर निर्भयता-पूर्वक अपने समाज में फैली हुई कुरीतियों की उन विषैली बेलों को उखाड़ कर फेंक दें जिन्होंने कि आज तक हिन्दू समाज को उन्नति की ओर अग्रसर होने से रोक रक्खा है, हम पाखण्ड के उस गढ़ को गर्त में मिला दें कि जिसने हमें अन्ध विश्वास के माया जाल में डालकर मनुष्यता से वंचित कर रक्खा है। निवेदन है कि जब तक हम इस प्रकार के बन्धनों से

जकड़े रहेंगे तब तक हमारे समाज और देश का कल्याण नहीं हो सकता। केवल राजनैतिक सुधार होने से कोई देश सुखी नहीं हो सकता। जब तक कि देश की सामाजिक विषमता का अन्त न हो जाय राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने से भी देश का वास्तविक लाभ नहीं हो सकता क्योंकि इन दोनों प्रकार के सुधारों में परस्पर आधाराधेय सम्बन्ध है। एक का दूसरे के बिना आगे बढ़ना असम्भव है। अतएव राजनैतिक सुधारों के विकास में सामाजिक सुधार का स्थान बड़े महत्व का है। बल्कि यों कहना चाहिये कि भारतवर्ष की सामाजिक बुराइयों ने अधिकांश में राजनैतिक सुधारों में भी रुकावट डाली हुई है। हमें जहां अपने राष्ट्रोत्थान के लिये राजनैतिक स्वतन्त्रता की आवश्यकता है वहां उससे भी अधिक सामाजिक विषमता को दूर करने की आवश्यकता है। राष्ट्ररूपी रथ के यह दोनों पहिये जब तक सुदृढ़ न बनाये जायेंगे तब तक राष्ट्र अपने निर्दिष्ट स्थान पर नहीं पहुंच सकता।

हम जो भविष्य में विश्वबन्धुत्व, विश्व शांति व मानवसमाज के एकत्व तथा स्वतन्त्रता के युग का निर्माण करने का विचार कर रहे हैं, हमें चाहिये कि अपनी सन्तान को, भारत के भावी नागरिकों को, ऐसी आदर्श शिक्षा दें जिससे उनके अन्तःकरण में धार्मिक पराधीनता और सामाजिक दासता के प्रति घृणा के भाव उत्पन्न हो जायें और उनके हृदयों को इतना बलवान बना दें

कि वे धार्मिक निरंकुशता के विरुद्ध दृढ़तापूर्वक युद्ध कर सकें तथा उनके मन से उन क्षुद्र भावनाओं को दूर कर दें जो अतीत-काल में स्वाभिमानी पाशविक शक्ति के सामने भय से घुटने टेक देना जानती है। हमें चाहिये कि हम सारी धार्मिक कट्टरता दूर कर दें तथा सब कल्पित कथाओं व रहस्यमय शिक्षाओं को निर्मूल कर दें जो सृष्टिक्रम तथा प्राकृतिक नियम के विरुद्ध हैं और जिन को इस बुद्धि और विवेक के युग में भी पुनर्जीवित करने का उद्योग हो रहा है। इसके लिये हिन्दू जाति के प्रत्येक सदस्य और विशेषकर नवयुवक वर्ग से हमारा आग्रह-पूर्वक अनुरोध है कि वे आलस्य और प्रमाद को त्याग कर देश और समाज के प्रति अपना कर्तव्य पालन करें, तभी देश का कल्याण हो सकता है। हम प्रार्थना करते हैं कि मंगलमय भगवान वह दिन शीघ्र लावें जब

सर्वे सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे पश्यन्तु भद्राणि मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥

* इत्यलम्